जैन योग

जैन योग

आचार्य महाप्रज्ञ

सपादक मुनि दुलहराज

प्रकाशक कमलेश चतुर्वेदी, प्रबधक, आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान),
सस्करण २०००, मूल्य पचास रुपये, मुद्रक कलरप्रिंट, दिल्ली-३२

JAIN YOG *by* Acharya Mahaprajna Rs 50/

आशीर्वचन

आध्यात्मिक व्यक्ति सत्य का अन्वेषी होता है। वह अपने चारो ओर विकीर्ण सूक्ष्म सत्यो तथा अज्ञात रहस्यो को जानने के लिए चेतना के सूक्ष्मतम स्तरो से गुजरता है। सत्य को पाने से पहले वह अपनी खोज के लिए समर्पित होता है। अन्तश्चेतना की बेचैन अन्वेषणा मे वह अपने आपको खो देता है। इससे उसकी चेतना के केन्द्र मे एक व्यापक विस्फोट होता है और वह आत्म-साक्षात्कार के अनिर्वचनीय आनन्द मे डूब जाता है। उसकी समत्व प्रज्ञा जागृत हो जाती है। वह अज्ञात को ज्ञात कर यथार्थ के उस धरातल पर पहुच जाता है, जहा सत्य को जाना नही जाता, जिया जाता है। इस स्थिति तक पहुचने के लिए एक विशेष प्रक्रिया से गुजरना होता है, जो 'योग साधना' इन दो शब्दो मे समा जाती है।

योग साधना वर्तमान युग की बहु-चर्चित और बहु-प्रयुक्त प्रक्रिया है। तेरापथ धर्म-सघ मे पिछले कई दशको पूर्व इसका पुनर्मूल्याकन हो चुका था, फिर भी 'जैन योग' के रूप मे एक स्वतत्र साधना पद्धति की व्यवस्थित प्रस्तुति हमारे पास नही थी।

मैने सन् १९६२ उदयपुर चातुर्मास मे मुनि नथमलजी (अब आचार्य महाप्रज्ञ) से इस सबध मे गहरा अनुसधान करने के लिए कहा। उनकी बचपन से ही यह वृत्ति रही है कि वे मेरे हर निर्देश के प्रति स्वाभाविक रूप से समर्पित रहते है। जब भी उनको किसी कार्य के लिए कहा जाता है, वे बिना ऊहापोह किए उसकी क्रियान्विति को प्राथमिकता देते है। साधना उनकी विशेष रुचि का विषय था। मेरे निर्देश का योग मिलने से वह अधिक पुष्ट हो गई। उनके अनुसधान की विधा रही–शास्त्रो का दोहन, तथ्यो का समाकलन, पद्धति का निर्धारण, वैज्ञानिक तथ्यो के साथ तुलना, प्रयोग और अनुभव। इन सबके

आधार पर एक परिष्कृत पद्धति का स्थिरीकरण हुआ, जो आज 'प्रेक्षा ध्यान साधना' के नाम से प्रयुक्त हो रही है ।

उस 'प्रेक्षा ध्यान' की पूरी प्रक्रिया ही 'जैन योग' है । यह एक चिरतन प्रश्न का समाधान है और है अतर्यात्रा का सोपान । इसका प्रारम्भ होता है अस्तित्व बोध के आत्मलक्षी बिदु से और अग्रिम बिदुओ मे है आभा-मडल, कुण्डलिनी, चैतन्य केन्द्र आदि शारीरिक, वैज्ञानिक तथा यौगिक दृष्टि से विश्लेषण । पद्धति और उपलब्धि की चर्चा के साथ इसके परिशिष्ट भाग मे भगवान् महावीर के साधना प्रयोगो और आचाराग मे उपलब्ध प्रेक्षा ध्यान के तत्त्वो को समाविष्ट कर पुस्तक की उपयोगिता को और अधिक बढा दिया गया है ।

'जैन योग' स्वाध्याय की ही नही, प्रयोग की भी प्रक्रिया है । इसके पाठक अपने मन की जागरूकता, आत्मा की समता और चित्त की निर्मलता को उत्तरोत्तर विकसित करते हुए तनाव-मुक्त जीवन जीने मे सफल हो, यही शुभाशसा है ।

गणाधिपति तुलसी

प्रस्तुति

जैन विद्वानों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता रहता है कि क्या जैन परम्परा मे योग मान्य है ? क्या 'योगदर्शन' जैसा कोई ग्रथ है ? इन दोनो प्रश्नों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श अपेक्षित है ।

भारत मे तीन मुख्य धर्म परम्पराए थी—वैदिक, जैन और बौद्ध । अवांतर रूप मे अन्य भी अनेक परम्पराए थी । उनकी अपनी-अपनी साधना-पद्धति थी । अष्टागयोग साख्यदर्शन की साधना-पद्धति है । सभी धर्मों ने अपनी साधना-पद्धति को भिन्न-भिन्न नामो से अभिहित किया था । जैन धर्म की साधना-पद्धति का नाम मुक्ति-मार्ग था । उसके तीन अग है–

१ सम्यक्-दर्शन

२ सम्यक्-ज्ञान

३. सम्यक्-चारित्र

महर्षि पतजलि के योग की तुलना मे इस रत्नत्रयी को जैन योग कहा जा सकता है । यह बहुत स्पष्ट है कि जैन धर्म की साधना-पद्धति मे अष्टागयोग के सभी अगो की व्यवस्था नही है । प्राणायाम, धारणा और समाधि का स्पष्ट स्वीकार नही है । यम, नियम, आसन, प्रत्याहार और ध्यान–इनका भी योग-दर्शन की भाति क्रमिक प्रतिपादन नही है । जैन धर्म की साधना-पद्धति स्वतत्र है, इसलिए उसकी व्यवस्था भी भिन्न है । उत्तराध्ययन के २८वे अध्ययन मे मुक्ति-मार्ग का सक्षिप्त कितु व्यवस्थित प्रतिपादन है । उसके २९, ३० व ३२वे अध्ययन मे भी साधना का पथ-निर्देश है । उत्तराध्ययन उत्तरवर्ती आगम है । प्राचीन आगमो मे आचाराग (प्रथम) का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । उसमे जैन धर्म की साधना-पद्धति का बहुत सूक्ष्म व मार्मिक प्रतिपादन है । सूत्रकृताग, भगवती व स्थानाग मे भी प्रकीर्णरूप से भावना, आसन, ध्यान आदि का निर्देश मिलता है । औपपातिक मे तपोयोग का व्यवस्थित प्रतिपादन है । तपोयोग सम्यक्-चारित्र का ही एक प्रकार है ।

आगम-साहित्य मे साधना-तत्त्वो के बीज मिलते हैं । उनका विस्तार और

प्रक्रियाए प्राप्त नही हैं। उनका विलोप कैसे हुआ ? यह अभी प्रश्नचिह्न ही बना हुआ है। भद्रबाहु स्वामी ने द्वादशवर्षीय 'महाप्राणध्यान' की साधना की थी। अन्य आचार्यों के विषय मे भी 'सर्वसवरयोगध्यान' की साधना का उल्लेख मिलता है। आगमिक साधना का स्वरूप हमे उपलब्ध है किंतु उसका विधि-तत्र उपलब्ध नही है।

आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रम की प्रथम शताब्दी) ने समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रथो की रचना कर जैन-परम्परा मे साधना का नया क्षेत्र खोला। किंतु मुक्तिमार्ग का समग्रदृष्टि से एक ग्रथ मे प्रतिपादन करने का श्रेय उमास्वाति (वि २-३) को ही है। उनका मोक्षमार्ग (तत्त्वार्थ सूत्र) आगम साहित्य और उत्तरवर्ती साहित्य के मध्य की कड़ी है। उसमे मुक्तिमार्ग के अगो का सविस्तार प्रतिपादन है।

साधना की प्रक्रियाओ का विस्तार हमे निर्युक्ति साहित्य मे मिलता है। उसका सागोपाग वर्णन आवश्यकनिर्युक्ति के कायोत्सर्ग-अध्ययन मे मिलता है। इसके रचनाकार है द्वितीय भद्रवाहु स्वामी और इसका रचनाकाल विक्रम की चौथी-पाचवी शताब्दी है।

मानसिक एकाग्रता की दूसरी भूमिका ध्यान है। उसका विशद विवेचन जिनभद्रगणी (छठी शताब्दी) के 'ध्यान शतक' मे मिलता है। ये दोनो रचनाए योगदर्शन तथा हठयोग के अन्य ग्रथो से प्रभावित नही हैं। इनमे जैन-परम्परा का स्वतत्र चितन परिलक्षित होता है।

पूज्यपाद देवनदि (चौथी-पाचवी शताब्दी) का 'समाधितत्र आध्यात्मिक अनुभूतियो का अजस्र स्रोत है। 'इष्टोपदेश' मे भी पूज्यवाद ने गहरी डुबकिया लगायी है। उसे पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति अध्यात्म से तदात्म हुए बिना नही रह सकता। पूज्यपाद योगानुभूति की परम्परा के आदिस्रोत है। बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, मूलाराधना (भगवती आराधना) आदि ग्रथो मे प्रसगवश कायोत्सर्ग ध्यान, आसन आदि की चर्चा मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र की वृत्तियो--श्लोकवार्तिक, भाष्यनुसारिणी आदि–मे भी विशद चर्चा हुई है।

विक्रम की आठवी शताब्दी से जैन योग मे एक नये अध्याय का सूत्रपात होता है। उसके पुरस्कर्ता है हरिभद्र सूरी। उन्होने योग की पद्धतियो और परिभाषाओ का जैन-पद्धतियो से समन्वय स्थापित कर जैन योग को नई दिशा प्रदान की। उनके मुख्य ग्रथ है--योगबिदु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगशतक और योगविशिका।

हरिभद्रसूरी का योग-विषयक वर्गीकरण पूर्ववर्ती जैन साहित्य मे प्राप्त नही है। अन्य योग-ग्रथो से भी उन्होने उधार नही लिया है। जैन और योग-परम्परा के संयुक्त प्रभाव से उन्होने अपने वर्गीकरण की योजना की। उनके अनुसार योग के पाच प्रकार है–

१ अध्यात्म ४. समता
२ भावना ५ वृत्तिसक्षय[1]।
३ ध्यान

नवी शती मे आचार्य जिनसेन ने 'महापुराण'' मे यत्र-तत्र योग-साधना का निरूपण किया है। ग्याहवी शताब्दी मे आचार्य रामसेन ने 'तत्त्वानुशासन' की और आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' की रचना की। इन दोनो ग्रथो मे योग के और नये उन्मेष मिलते है। इस शताब्दी मे जैन योग अष्टागयोग, हठयोग और तत्रशास्त्र से अधिक प्रभावित मिलता है। आगमिक युग मे धर्म्यध्यान था, वह इस काल मे पिडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत–इन चार रूपो मे वर्गीकृत हो गया। इस वर्गीकरण पर तत्रशास्त्र का प्रभाव प्रतीत होता है। नवचक्रेश्वरतत्र मे पिड, पद, रूप और रूपातीत को जानने वाले को गुरु कहा गया है–

''पिड पद तथा रूप, रूपातीत चतुष्टयम्।
यो वा सम्यग् विजानाति, स गुरु परिकीर्तित ॥''

गुरु-गीता मे पिड का अर्थ कुडलिनी शक्ति, पद का अर्थ हस, रूप का अर्थ बिदु और रूपातीत का अर्थ निरजन किया गया है–

''पिड कुडलिनी शक्ति, पद हस प्रकीर्तित।
रूप बिदुरीति ज्ञेय, रूपातीत निरजनम् ॥''

जैन आचार्यो ने पिडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत–इस वर्गीकरण को स्वीकार किया किंतु उनके अर्थ अपनी परिभाषा के अनुसार किए। चैत्यवदनभाष्य मे पिडस्थ, पदस्थ और रूपातीत–ये तीन ही प्रकार मान्य किए गए–

''भावेज्य अवत्थतिय पिडत्थ पयत्थ रूवरहियत।
छउमत्थ केवलित्त, सिद्धत्थ चेव तस्सत्थो ॥''

---

१ योगबिदु ३१ ''अध्यात्म भावना ध्यान, समता वृत्तिसक्षय.।
मोक्षेण योजनाद् योग', एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥''

इनका अर्थ भी शेष ग्रथो से भिन्न है। भाष्यकार के अनुसार छद्मस्थ (आवृतज्ञानी), केवली (अनावृतज्ञानी) और सिद्ध--ये तीन ध्येय है। एतद् विषयक ध्यान को क्रमश , पिडस्थ, पदस्थ और रूपातीत कहा जाता है। उस समय ध्यान के इन प्रकारो से जन-मानस बहुत परिचित हो गया था, इसलिए जैन आचार्यो के लिए भी इनका स्वीकार आवश्यक हो गया था, ऐसा प्रतीत होता है।

इसी (ग्यारहवी) शताब्दी मे सोमदेवसूरी ने भी योग के विषय मे कुछ लिखा था। उनका योगसार ग्रथ बहुत ही मार्मिक है। यशस्तिलकचम्पू के ३९ और ४०वे कल्प मे उन्होने योग विषयक चर्चा प्रशस्त पद्धति से की है। इस शताब्दी के ग्रथो मे पार्थिवी, वारुणी, तैजसी[1], वायवी और तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू)--इन पाच धारणाओ की भी मान्यता मिलती है। तत्त्वानुशासन मे केवल तीन धारणाओ का उल्लेख मिलता है।

बारहवी शताब्दी मे आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' की रचना की। उसमे योग और रत्नत्रयी की एकात्मकता प्रतिपादित हुई है।[2] उसमे आचार्य हेमचन्द्र ने योग की पारम्परिक पद्धति का भी निरूपण किया है। स्वानुभव के आधार पर उन्होने मन के चार रूप प्रस्तुत किए है--

१ विक्षिप्त ३ श्लिष्ट
२ यातायात ४ सुलीन

तेरहवी शताब्दी मे पडित आशाधरजी की कृति 'अध्यात्म-रहस्य' प्राप्त होती है। ग्रथकार ने आध्यात्मिक रहस्यो का व्यवस्थित पद्धति से प्रतिपादन किया है।

पन्द्रहवी शताब्दी की एक कृति मुनिसुन्दरसूरी की है। उसका नाम 'अध्यात्म कल्पद्रुम' है। इसकी शैली प्रक्रियात्मक कम, उपदेशात्मक अधिक है।

अठारहवी शताब्दी मे विनयविजयजी ने 'शान्तसुधारस' की रचना की। भावनायोग की यह सुन्दर कृति है। इसी शताब्दी मे उपाध्याय यशोविजयजी

---

१ तत्त्वानुशासन १८३ "तत्रादौ पिण्डसिद्ध्यर्थं, निर्मलीकरणाय च।
मारुती तैजसीमाप्यॉं विदध्याद् धारणा क्रमात्॥"

२ योगशास्त्र १/१५ "चतुर्वर्गेऽग्रमोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूपरत्नत्रय च स॥"

ने योग की सरिता प्रबल धारा से प्रवाहित की थी। उनके योग विषयक अनेक ग्रंथ मिलते हैं--अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्मसार, योगावतार-द्वात्रिंशिका। आचार्य हरिभद्र की योगविंशिका पर उन्होने टीका लिखी। पातजल योगसूत्र पर उनकी एक वृत्ति है। उसमे जैन-योग का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

वि स. २०१८ मे गुरुदेवश्री तुलसी ने 'मनोनुशासनम्' लिखा है। इसमे जैन योग का एक नई शैली से प्रतिपादन हुआ है। नमस्कार स्वाध्याय मे दो लघुकाय ग्रथ प्रकाशित है। वे जैन योग के क्षेत्र मे नया आयाम प्रस्तुत करते है। 'पासनाहचरिय' २१ गाथाओ की ध्यान सबधी सुदर कृति है। ज्ञानसार, विद्यानुशासन, वैराग्यमणिशास्त्र, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रथ है।

जैन आगमो के गभीर अध्ययन से हर कोई अनुभव करेगा कि उनमे ध्यान की प्रचुर सामग्री है। ध्यान-परम्परा की विस्मृति और अभ्यास के अभाव मे उसका मूल्याकन नही हो पा रहा है। ध्यान साधना के लिए 'आयारो' (आचाराग का प्रथम श्रुतस्कध) पर्याप्त है। उसमे प्रेक्षा या विपश्यना के तत्त्व बहुत स्पष्टता से प्रतिपादित हुए है। परिशिष्ट सख्याक-२ मे 'आयारो' के कुछ सूत्र सकलित है। उन्हे पढ़कर इस वास्तविकता को समझा जा सकता है। इस पुस्तक मे जैन योग (मुक्ति-मार्ग या संवर-सूत्र) का प्राचीन रूप नये प्रश्नो के सदर्भ मे प्रस्तुत किया गया है। क्या जैन योग मे चक्रो का स्थान है? क्या कुडलिनी के सबध मे कोई चर्चा है? ये प्रश्न बहुत बार पूछे जाते रहे हैं और साथ-साथ अनुत्तरित भी रहे है। उन अनुत्तरित प्रश्नो का उत्तर खोजने का भी विनम्र प्रयत्न किया गया है।

जैन-योग के दो मुख्य सूत्र है--सवर और तप। सवर पाच है--सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग। साधना की ये ही पाच भूमिकाए है। गुणस्थान इन्ही का एक विकसित रूप है। ध्यान तपोयेग का एक महत्त्वपूर्ण अग है। साधना का आदि, मध्य और अत इसके द्वारा ही सपन्न होता है। धर्म-ध्यान को प्रेक्षा-ध्यान के रूप मे एक नया आयाम दिया गया है, जो जैन साधना-पद्धति के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। सक्षेप मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत पुस्तक **जैन योग** के विस्मृत अध्यायों की स्मृति का माध्यम बन सकेगी।

गुरुदेवश्री तुलसी ने योग-विद्या के क्षेत्र मे अनेक प्रयत्न किए। विस्मृत

को स्मृत करने की बलवती भावना, धृति और उत्साह ने हम सबको प्रोत्साहित किया। कुशल, प्रणिधान आदि अनेक प्रयोगो के द्वारा ध्यान-साधना की पद्धति को उपलब्ध करने का प्रयत्न किया गया और गुरुदेवश्री स्वयं उन प्रयोगों मे सतत सलग्न रहे। वे छोटे-छोटे बरगद के बीज आज शतशाखी हो गये और प्रेक्षा ध्यान के रूप मे जैन योग की एक महत्त्वपूर्ण पद्धति प्रचलित हो गई। 'तुलसी अध्यात्म नीडम्' (जैन विश्व भारती) के माध्यम से आयोजित होने वाले शिविरो मे उस पद्धति का परीक्षण सफल रहा और साधना करने वालो के मन मे साधना के प्रति एक नया आकर्षण पैदा हुआ। इस पुस्तक से जैन योग के शास्त्रीय स्वरूप को ही नही किंतु अनुभूत स्वरूप को जानने मे भी सहयोग मिलेगा।

प्रस्तुत पुस्तक मे भाषा और शैली की विविधता है। कहीं गूढ़ भाषा और सूत्रात्मक शैली है तो कही स्पष्ट भाषा और विस्तृत शैली है। कही-कही विषय की स्पष्टता के लिए लिए प्रतिपाद्य की पुनरुक्ति भी है। इसमे साहित्यिक सिद्धात की कठोरता नही बरती गई है किंतु साधना के रहस्यपूर्ण विषय की अरहस्यात्मकता समझ मे आ सके, इस दृष्टि से भाषा और शैली के प्रतिबधो की उपेक्षा की गई है।

मुनि दुलहराजजी ने इसका श्रमसाध्य सपादन कर इसे व्यवस्थित रूप दिया और लिपियो और प्रतिलिपियो का एक जटिल कार्य सभव बनाया।

स्वर्गीय साहू शातिप्रसादजी जैन कई बार जैन योग के विषय मे एक ग्रथ उपलब्ध करना चाहते थे। उन्होने मुझे कई बार कहा कि अनेक विदेशी मित्र **जैन योग** के बारे मे जिज्ञासा करते है और वे इस विषय मे कोई ग्रथ चाहते है। उनके जीवनकाल मे उनकी भावना को पूरा नही किया जा सका। जैन योग के विषय मे गुरुदेवश्री तुलसी के **मनोनुशासनम्** ग्रथ की व्याख्या मैने लिखी। इसी क्रम मे मेरे द्वारा लिखित **चेतना का ऊर्ध्वारोहण, महावीर की साधना का रहस्य, मन के जीते जीत, प्रेक्षा ध्यान** आदि ग्रथ भी प्रकाश मे आए। किंतु 'जैन योग' इस शीर्षक की सीमा मे जैन साधना-पद्धति को प्रस्तुत करने का प्रयत्न सभव नही हो पाया। एक प्रसग बना और पूर्व-निर्धारित कार्यक्रमो की बहुलता के उपरात भी यथासमय मैं 'जैन-योग' को प्रस्तुत कर सका, यह मेरे लिए प्रसन्नता का विषय है।

मुनि नथमल

(आचार्य महाप्रज्ञ)

विषय-संकेत

१

साधना की पृष्ठभूमि

- अस्तित्व का बोध
- अह का विसर्जन
- क्रियावाद   आस्रव
- प्रतिक्रियावाद   कर्म

अस्तित्व का बोध

वह दरिद्र कैसे ?

"तुम भिखारी नही हो, फिर भीख किसलिए माग रहे हो ?" ज्योतिषी ने कहा। भिखारी बोला–"दरिद्र हू, खाने को कुछ नही है, इसलिए भीख माग रहा हू।" ज्योतिषी तेज स्वर मे बोला–"तुम दरिद्र नही हो, तुम्हारे पास बहुत कुछ है।" उसने भिखारी की आकृति पर गहरी दृष्टि डाली। भिखारी आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से देखने लगा। ज्योतिषी मन-ही-मन सोच रहा था कि यदि यह दरिद्र है तो मेरी विद्या मिथ्या है और यदि मेरी विद्या सत्य है तो यह दरिद्र नहीं हो सकता।

भिखारी मन-ही-मन सोच रहा था कि मै दरिद्र हू और यह मुझे धनी मान रहा है। यह कैसा अजीब आदमी है, इतना भी नही समझता कि यदि मै धनी होता तो भीख क्यो मागता ?

कुछ देर तक दोनो अपने-अपने चितन मे डूबे रहे। आखिर ज्योतिषी ने कहा–"चलो, मैं तुम्हारे घर चलना चाहता हूँ।" दोनो वहा से चले और भिखारी के घर पहुचे। ज्योतिषी ने उसके विशाल भवन को देखा और उसका विश्वास पुष्ट हो गया। वह बोला–"इतना बड़ा तुम्हारा घर, फिर तुम दरिद्र कैसे ?" भिखारी ने कहा–"महाराज ! यह पुरखो की थाती है। मेरे पूर्वज बहुत वैभवशाली थे। उनका बनाया हुआ यह मकान है। अब धन समाप्त

हो गया। मकान को खा नही सकता। खाने के लिए पैसा नही है, इसलिए भीख मागनी पड़ रही है।''

ज्योतिषी ने फिर वेधक दृष्टि देखा। वह बोला–''मेरी विद्या कहती है, तुम दरिद्र नही हो।'' भिखारी ने कहा–''महाराज! जो हूँ वह सामने हू, मैने कुछ छिपा नही रखा।''

ज्योतिषी कोई साधारण ज्योतिषी नही था। वह अष्टाग निमित्त को जानता था। उसने विद्या के बल पर भूगर्भ को देखा। उसने भिखारी से कहा–''जाओ, तुम एक कुदाली ले आओ।'' वह पड़ोसी के घर से एक कुदाली ले आया। ज्योतिषी ने कहा–''पूर्व के कोने मे जो कमरा है उसके मध्य भाग को खोदो।'' भिखारी ने उसे खोदा। खुदाई मे कुछ भी नही निकला। वह बोला–''महाराज! यहाँ क्या मिलेगा? मै थक गया हूँ। आप मुझे आज्ञा दे कि मै इसे खोदना बद कर दूँ।'' ज्योतिषी बोला–''अभी तुम ऊपर-ऊपर चल रहे हो। थकने से काम नही चलेगा। अभी तुम्हे काफी गहराई मे जाना होगा।'' भिखारी ज्योतिषी के विश्वास मे आ गया था, इसलिए उसने वैसा ही किया जैसा ज्योतिषी का आदेश था। वह गहरा खोदता गया। उसने देखा–मिट्टी के नीचे एक शिलाखड है। ''महाराज! अब शिलाखड आ गया है, इसे हटाना कठिन होगा। क्या मै इस खुदाई को बद कर सकता हूँ?'' ज्योतिषी ने कहा–''अभी नही। इसे हटाओ, और गहरे मे उतरो।'' उसने कठोर श्रम किया और उस शिलाखड को हटा दिया। कुछ अतराल के बाद दूसरा शिलाखड आया। उसे भी हटा दिया। दो शिलाखड और आए, उन्हे भी हटा दिया। जैसे ही उसने चौथा शिलाखड हटाया वैसे ही ज्योतिषी चिल्ला उठा–''अरे! मैने पहले ही कहा था कि तुम दरिद्र नही हो। जिसके घर मे करोड़ो की सपत्ति छिपी पड़ी है, वह दरिद्र कैसे हो सकता है?'' भिखारी स्तब्ध रह गया। उसे पता ही नही था कि उसके घर मे इतना सोना, इतने रत्न और इतनी सपदा छिपी पड़ी है।

दु ख का मूल स्व का अपरिचय

एक दिन मेरे पास एक आदमी आया। उसके चेहरे से दु ख टपक रहा था। मैने उससे पूछा तो उसने बताया कि ''मै दु खी इसलिए हूँ कि मेरे

मन मे शान्ति नहीं है । और शांति नही है इसलिए सुख भी नहीं है ।" मैने उस पर एक गहरी दृष्टि डाली और कहा– "शाति और सुख तुम्हारे भीतर है, फिर तुम दु:ख का भार क्यो ढो रहे हो ?" मेरी बात सुन वह आश्चर्य में डूब गया। वह बोला–"यदि मेरे भीतर ही शांति और सुख होते तो मैं दु:ख का भार क्यो ढोता ?" मैने कहा–"मुझे लगता है कि तुम वास्तव मे दु:खी नही हो । तुम्हारे दु ख का मूल तुम्हारा अज्ञान है । तुम्हारी अशांति का मूल तुम्हारा अपने आप से परिचित नही होना है । दूसरो के कपड़ो को पहनकर आदमी कितने समय तक सौंदर्य का प्रदर्शन कर सकता है । बाहरी वस्तुओ के सचय के बल पर आदमी कब तक शाति का अनुभव कर सकता है ? तुम अपने अतर की खोज करो, अभीप्सा को तीव्र करो और गहरे मे उतर जाओ । अनुभूति को तीव्र करो और हृदय की गहराई मे उतर जाओ । गहराई, गहराई और गहराई मे इतने उतरो कि तुम चारो शिलाखडो को हटा, उनके पार जा सको ।"

ज्ञान का आवरण–यह पहला शिलाखड है ।
दर्शन का आवरण–यह दूसरा शिलाखड है ।
सुख की चेतना का आवरण–यह तीसरा शिलाखड है ।
शक्ति का अवरोध–यह चौथा शिलाखड है ।

वह ध्यान के द्वारा उन चारो शिलाखडो को हटा भीतर गया तो उसने देखा कि शाति की अतल गहराई मे सुख का सागर लहरा रहा है ।

शाति पर किसी व्यक्ति का एकाधिकार नही है । सुख पर किसी व्यक्ति का एकाधिकार नही है । वे सार्वजनिक है । उन सबके पास है, जिनके पास चेतना है । उन सबको प्राप्त है, जिन्होने अपने भीतर खोजा है और गहराई मे उतरने मे सफल हुए है ।

पारदर्शी दृष्टि

तुम मुझसे पूछोगे और किसी बात को छिपाए बिना पूछोगे कि क्या हमारे भीतर शाति और सुख है ? मै इसका उत्तर देने मे बड़ी कठिनाई अनुभव कर रहा हू । यदि मै कहूँ कि तुम्हारे भीतर शाति और सुख नही है तो मै सत्य के साथ न्याय नही करूँगा । और यदि मै कहूँ कि तुम्हारे भीतर शाति

और सुख है तो तुम मेरी बात पर विश्वास नहीं करोगे । तुम मुझ पर विश्वास नही करोगे, उसके लिए मैं तुम्हे दोष नही दूगा, क्योंकि उस अविश्वास के लिए तुम अपराधी नहीं हो । वह अविश्वास अकारण नही है । तुम्हारे तथा शांति और सुख के बीच मे कई सुदृढ दीवारें हैं । तुम्हारी दृष्टि पारदर्शी नही है, जो दीवारों को भेदकर तुम उस पार देख सको । पहली दीवार यह है कि तुम्हे अपने भीतर की सपदा की जिज्ञासा नही है । दूसरी दीवार यह है कि तुम्हे अपनी भीतर की सपदा में विश्वास नही है । तीसरी दीवार यह है कि तुममे अपनी भीतरी सपदा तक पहुँचने के लिए दृढ सकल्प, प्रयत्न और तन्मयता नही है । इस स्थिति मे यदि तुम मेरी बात पर अविश्वास करोगे तो मुझे खेद नही होगा ।

एक प्रसिद्ध उक्ति है कि कस्तूरी की गध को मनवाने के लिए सौगन्ध खाने की आवश्यकता नही है—"नहि कस्तूरिकागध. शपथेनानुभाव्यते ।" यही उक्ति यहाँ लागू होती है कि आत्मा के भीतर शाति और सुख की अजस्र धारा बह रही है, उसे मनवाने के लिए मुझे सौगध खाने की आवश्यकता नही है । कस्तूरी को घिसने की जरूरत है । सुगन्ध अपने आप फूट जाएगी । अगरबत्ती को जलाने की जरूरत है, सुगन्ध अपने आप फूट जाएगी । 'अह' और 'मम' को घिसो और जलाओ, वे दीवारें अपने आप ढह जाएगी और उनकी ओट मे बहने वाली शाति और सुख की धारा गहराई से सतह तक पहुँच जाएगी ।

हर आदमी पानी पीता है, इसलिए वह जानता है कि पानी पीने से प्यास बुझती है । हर आदमी रोटी खाता है, इसलिए वह जानता है कि रोटी खाने से भूख शात होती है । रोटी और पानी तथा उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष है, इसलिए हर आदमी उसे जानता है । पानी पिए बिना भी प्यास बुझ सकती है और रोटी खाए बिना भी भूख शात हो सकती है, यह बात प्रत्यक्ष अनुभव मे नही है । इसलिए इसे मानने के लिए कोई तैयार नहीं है । हमारी आत्मा के साथ चार वस्तुए सबध स्थापित किए हुए है १ सूक्ष्म शरीर, २ स्थूल शरीर, ३ प्राण, और ४ मन ।

प्रतिपादन की सुविधा के लिए मै इनको दो वर्गो मे सगृहीत कर लेता

हूं। शरीर-वर्ग मे दोनो शरीर समाविष्ट हो जाते हैं। प्राण और मन में घनिष्ठ सबंध है, इसलिए प्राण मन के द्वारा सगृहीत हो जाता है। तुम इस तथ्य से भली-भांति परिचित हो कि शरीर में रोग पैदा होते हैं और मन मे भी रोग पैदा होते है। किन्तु तुम इस तथ्य से परिचित नही हो कि शरीर और मन मे रोग का उपचार भी सन्निहित है। भूख और प्यास का उपचार भी सन्निहित है। सर्दी और गर्मी का प्रभाव शरीर पर होता है, पर सर्दी और गर्मी के नियत्रण की क्षमता भी शरीर और मन मे सन्निहित है। अतिश्रम और स्नायविक तनाव का प्रभाव शरीर और मन पर होता है और इनका उपचार भी शरीर और मन मे सन्निहित है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नही होगा कि शरीर और मन पर होने वाले हर विकार का उपचार उन (शरीर और मन) मे सन्निहित है।

जागो जगाओ

तुम अपनी आतरिक शक्ति मे परिचित नही हो, इसलिए उसका उपयोग करने मे सक्षम नही हो। बरगद का बीज कितना छोटा होता है। वह शतशाखी हो सकता है, उसके आकार को देखकर यह अनुमान करना कठिन है। किन्तु जब औपधिक अह को विसर्जित कर भूमि के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाता है तब वह उस ऊचाई और विस्तार को प्राप्त करता है जिसकी उसके लघु आकार मे सभावना नही की जा सकती।

शरीर की शक्ति फिर भी सीमित है। मन की शक्ति असीम है। मन का शक्तिस्रोत आत्मा है। उसमे अनत शक्ति विद्यमान है। मूल का सौंदर्य तब तक प्रकट नही होता, जब तक वह पूर्ण रूप मे विकसित नही हो जाता। हाथी और घोड़े अभिवादन करते है, पर वे ही करते है जो शिक्षित होते है। मनुष्य देखता है और बातचीत करता है। किंतु सुप्त अवस्था मे वह न देखता है और न बातचीत करता है। जागरण, शिक्षण और विकास की अवस्था मे जो प्रकट होता है वह निद्रा, अशिक्षा और सिकुड़न की अवस्था मे नही होता।

तुम अप्रिय मत मानना। तुमने शरीर को शिक्षित करने का कभी प्रयत्न नही किया, इसलिए तुम शरीर के भीतर छिपी हुई महान् शक्तियो का उपयोग

करने से वचित रह रहे हो। तुमने मन को जागृत करने का कोई प्रयत्न नही किया, इसलिए तुम मन की असीम शक्तियो मे विश्वास करने के लिए दरिद्र हो। तुम्हारी इस अहेतुक दरिद्रता के प्रति मेरे मन मे करुणा है, इसलिए मै कह रहा हूँ कि तुम स्वय जागो और अपनी सुप्त शक्तियो को जगाओ। मै यह जानता हूँ कि शक्ति के जागरण की प्रक्रिया को जाने बिना कोई भी आदमी उन्हे जागृत नही कर सकता। मै अभी तुम्हे यह नही बताऊगा कि शरीर और मन के भीतर छिपी शक्तियो को कैसे अनावृत किया जा सकता है। सुप्त शक्तियो को कैसे जागृत किया जा सकता है, अभी इसे बताने का कोई विशेष अर्थ ही नही होगा। अभी मेरा लक्ष्य एक ही है, और वह है—आतरिक शक्तियो के प्रति तुम्हारे मन मे अभीप्सा उत्पन्न करना। उनके प्रति तुम्हारे अज्ञान और सदेह को दूर करना।

अज्ञात के प्रति सदेह होना अस्वाभाविक नही। तुम्हे तुम्हारी शक्तिया ज्ञात नही है, इसलिए उनके प्रति तुम जो सदिग्ध हो, वह मेरे लिए आश्चर्य की बात नही है। मुझे आश्चर्य तब होता है जब इन शक्तियो से अपरिचित आदमी इनके होने मे सदेह नही करता।

अपना क्या है ?

प्रस्तुत चर्चा मे शरीर और मन की शक्तियो का विश्लेषण करना मेरा उद्देश्य नही है। यह चर्चा मैने प्रासगिक रूप मे या एक उदाहरण के रूप मे की है। मै जो कहना चाहता हू वह यह है कि जब शरीर और मन की प्रवृत्ति विसर्जित हो जाती है उस समय शाति और सुख का ऐसा स्रोत प्रकट होता है, जिसकी साधारण स्थिति मे तुम कल्पना भी नही कर सकते। किंतु शरीर और मन की शक्तियो से अपरिचित होने की स्थिति मे उनके विसर्जन से प्रकट होने वाली शाति के प्रति तुम कैसे आश्वस्त हो सकते हो ? तुम पूछ सकते हो कि अपना क्या है, और इसकी खोज कैसे की जा सकती है ? अपना क्या है, यह मै इसी लेख मे बतलाने वाला हूँ। किंतु उसकी खोज की पद्धति बतलाना किंचित् कठिन है। अपनी खोज की परपरा हजारो वर्ष पुरानी है। फिर भी आश्चर्य है कि आज तक उसकी कोई निश्चित पद्धति निर्धारित नही हुई है। भौतिक सिद्धात की भाति सब पर समान रूप से घटित

होने वाला उसका कोई निश्चित सिद्धात नही है। यह व्यक्तिगत प्रश्न है। इस समस्या पर विचार करता हू तब चेतन और अचेतन जगत् की भेदरेखा बहुत स्पष्ट रूप मे दृष्टि के सामने उभर आती है। अचेतन मे अपनी इच्छा, अपनी प्रवृत्ति और उसका परिणाम नही है, इसलिए उसके लिए एक सामान्य नियम की सरचना की जा सकती है किंतु चेतन जगत् मे व्यक्ति-व्यक्ति की अपनी इच्छा, अपनी प्रवृत्ति और उसका परिणाम होता है, इसलिए उनके लिए किसी सामान्य नियम की सरचना नही की जा सकती। चेतन के विकास मे बाह्य परिस्थितिया और आंतरिक क्षमता दोनो सयुक्त-रूप मे घटक का काम करते हैं। मनुष्यो मे क्षमताओ का तारतम्य इसीलिए है कि वे चेतन है और चेतन होने के कारण क्रिया करने मे स्वतत्र है। स्वतत्र अस्तित्व किसी एकात्मक नियम की अपेक्षा नही रखता।

अपनी खोज एक प्रक्रिया

अपनी खोज के प्रसग मे स्वतत्रता-जनित तारतम्य को समझना बहुत जरूरी है। कुछ लोग अपनी खोज मे प्रवृत होते है और अल्पकाल मे ही सफल हो जाते है। कुछ लोग बहुत लम्बे समय के बाद सफल होते है। कुछ लोग लम्बी अवधि से घबराकर उसे बीच मे ही छोड देते है। इस प्रकार अपनी खोज की अनेक कोटिया हो जाती है।

यद्यपि अपनी खोज की सामान्य पद्धति की स्थापना करना कठिन है, फिर भी सामान्य पद्धति का निर्देश किये बिना काम नही चल सकता। यह लम्बी चर्चा मैने इसलिए की है कि अपनी खोज मे लगने वाले लोग सामान्य पद्धति और सामान्य परिणाम की सभावना न देख उससे विरत न हो जाए। कुछ लोगो की यह जिज्ञासा है कि जिस प्रकार बी०ए०, एम० ए० का निश्चित पाठ्यक्रम है उसके अनुसार पढ़ने वाला विद्यार्थी अमुक अवधि मे उन परीक्षाओ मे उत्तीर्ण हो जाता है, इस प्रकार अध्यात्म-साधना का कोई निश्चित क्रम नही है, जिससे साधक मे यह विश्वास जाग जाए कि वह अमुक अवधि मे अमुक कक्षा तक पहुच जाएगा।

उक्त जिज्ञासानुसारी पाठ्यक्रम निश्चित करना मुझे असभव नही लगता। अमुक अवधि मे अमुक कक्षा तक पहुँच जाना भी असम्भव नही

है । उपयुक्त श्रम और निष्ठा के अभाव मे एक विद्यार्थी बौद्धिक पाठ्यक्रम की परीक्षाओ मे भी अनुत्तीर्ण हो जाता है । वैसे ही इस साधनाक्रम मे होता है । उत्तीर्ण होने वालो की योग्यता समान नही होती । वैसे ही इसमे भी होता है । अत अपनी खोज की सामान्य पद्धति और उसके परिणाम के विषय मे सदेह करने की अपेक्षा नही है । एक लम्बी अवधि से यह माना जाता रहा है कि 'अपनी खोज' की आवश्यकता मुनिगण को है, गृहस्थ के लिए आवश्यक नही है । धर्म की ज्योति क्रियाकाड की राख से आच्छन्न हो गई, तब यह विचार पनपा था । वर्तमान युग की बौद्धिक और वैज्ञानिक धारणाओ ने इसकी जड़ को हिला दिया है । आज यह माना जाने लगा है कि हर व्यक्ति को योगी बनने की जरूरत है, जो शाति और सतुलनपूर्वक जीवन चलाना चाहता है और जो जीवन की प्रत्येक अपेक्षा को पूर्ण करता है पर उसके भार से दबना नही चाहता ।

अपनी खोज मे प्रवृत्त होने वाला जीवन की अपेक्षाओ से विमुख नही होता । शरीर साधना का अनिवार्य या प्रथम साधन है । उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है । शरीर की उपेक्षा नही की जा सकती, तब उसकी सहायक साधन-सामग्री की उपेक्षा कैसे की जा सकती है । साधना-काल मे साधनो की उपेक्षा नही होती, किंतु उनके मूल्याकन का दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है ।

"जिसका दृष्टिकोण सम्यक् होता है उसके लिए जो आस्रव (बधन के हेतु) है, परिश्रव (मोक्ष के हेतु) हो जाते है । जिसका दृष्टिकोण मिथ्या होता है उसके लिए परिश्रव आस्रव हो जाते है ।"

दृष्टिकोण के समीचीन होने पर शरीर और उसकी पोषक सामग्री साधना का अग बन जाती है । उसकी असमीचीनता मे वह बाधक बन जाती है ।

साधना के प्रति दृष्टिकोण स्थिर नही होता । उस स्थिति मे देह के प्रति आसक्ति होती है, भोजन के प्रति आसक्ति होती है । शरीर और भोजन के प्रति आसक्ति होना न स्वाभाविक है और न अनिवार्य है । उनकी यथार्थता को न समझने के कारण वह होती है । अपनी खोज का आरभ है यथार्थता का बोध, सत्य की साक्षात् अनुभूति । जिस वस्तु का जो मूल्य है, उसे विघटित

कर देना साधना का उद्देश्य नही है। उसका उद्देश्य है वास्तविक मूल्य की प्रतिष्ठापना और काल्पनिक या आरोपित मूल्य का विघटन। जो आदमी धन का यथार्थ मूल्य नहीं जानता, वह उसका सही उपयोग नहीं कर पाता किंतु उसमे आसक्त होकर उससे प्रताड़ित होता है, उसे अशाति का निमित्त बना लेता है। यही बात शरीर, भोजन आदि पदार्थों के लिए घटित होती है।

उपनिषदो मे शरीर को रथ और उसमे विराजमान चेतन को रथिक कहा गया है। आगम-सूत्रो मे शरीर को नौका और उसमे विराजमान चेतन को नाविक कहा गया है। वह नाविक इसी नौका के द्वारा दु ख के सागर को पार करता है।

अध्यात्म जीवन की सबसे बड़ी कला है। जो आदमी अध्यात्म की कला से अभिज्ञ नही है वह अन्य सब कलाओ का पारगामी होने पर भी जीवन की कला से अनभिज्ञ नही है। मै फिर एक बार उस तथ्य को दोहराना चाहता हूँ कि शाति और सुख की उपलब्धि के लिए अपनी खोज उतनी ही अनिवार्य है जितना अनिवार्य है स्वास्थ्य के लिए समीचीन श्वास।

अहं का विसर्जन

व्याकरणशास्त्र के अनुसार तीन पुरुष होते है

१ प्रथम पुरुष–वह

२ मध्यम पुरुष–तू

३ उत्तम पुरुष–मै

यह पुरुष-भेद, 'स्व' और 'पर' की भावना इस शरीर से उत्पन्न हुई है। मेरा अस्तित्व इस शरीर से भिन्न नही है, इसलिए इस शरीर की सीमा तक मै हूँ, इससे परे मै नही हू। इससे परे जो है वह 'पर' है–मुझसे भिन्न है। मै वह नही और वह मै नही हूँ। इस प्रकार 'मै' और 'वह' के बीच मनुष्य ने एक रेखा खीच रखी है। वही 'स्व' और 'पर' की सीमारेखा है।

मनुष्य की समग्र प्रवृत्ति और अभिव्यक्ति का केन्द्र शरीर है। इसके विषय मे दो प्रकार के लोगो ने दो प्रकार से सोचा है। कुछ लोगो ने सोचा कि शरीर से भिन्न मनुष्य का कोई अस्तित्व नही है और कुछ लोगो ने सोचा कि जैसे एक व्यक्ति का शरीर दूसरे व्यक्ति से भिन्न है वैसे ही मनुष्य की प्रवृत्ति का केन्द्रभूत शरीर भी उससे भिन्न है। प्रथम विचार के अनुसार चैतन्य शरीर का एक ही धर्म है और दूसरी विचारधारा के अनुसार शरीर और चैतन्य दो है।

यहा मुझे इस विषय का समर्थन या निरसन नही करना है कि शरीर और चैतन्य अभिन्न है या वे भिन्न है। मै केवल इतना ही बताना चाहता

हूँ कि अध्यात्म-साधना का सारा विकास 'शरीर और चैतन्य भिन्न है' इसी विचारधारा के आधार पर हुआ है। साधना के क्षेत्र मे यह स्वर बहुत प्रखर रहा कि 'मै दो हूँ' यह मानना अविद्या है। 'मै देह नही हूँ किंतु चिन्मय आत्मा हूँ'—यह अनुभव करना विद्या है—

देहोऽहमिति या बुद्धि., अविद्येति प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति, बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥

जो मनुष्य शरीर और चैतन्य को एक मानता है वह बहिरात्मा है। जो मनुष्य शरीर और चैतन्य की भिन्नता का अनुभव करता है, वह अतरात्मा है। जो मनुष्य सम्यक् दर्शन व सम्यक् चरित्र के द्वारा आत्मा के आवृत रूप को प्रकट करता है, वह परमात्मा है।

मनुष्य जो भी प्रयत्न करता है, वह दु खमुक्ति और सुखप्राप्ति के लिए करता है। आनद आत्मा का सहज धर्म है। वह हर मनुष्य के अतस्तल मे विद्यमान है। किंतु मन जब बाह्य विचारो से भरा रहता है तब अतस्तल मे छिपे हुए आनद का अनुभव करने के लिए उसमे अवकाश नही होता। मन जब चचल रहता है, तब वह अतस्तल मे छिपे हुए आनद का स्पर्श नही कर पाता। उसका अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि मन खाली हो। मन का खाली होना ही अस्तित्व का बोध है। मन का खाली होना ही अह का विसर्जन है।

जब मन बाह्य विचारो से शून्य होता है तब उस शून्यता को चैतन्य की अनुभूति भर देती है। जब मन चैतन्य की अनुभूति से शून्य होता है तब उस शून्यता को बाह्य विचार भर देते है।

ममकार और अहकार

ममकार और अहकार के निदान की मीमासा अनेक तत्त्वविदो ने की है। तत्त्वविद् जिस भूमिका का होता है, उसी भूमिका के सदर्भ मे वह सोचता है। अध्यात्म के तत्त्वविदो ने दु ख का निदान देह और चैतन्य मे एकता का आरोप माना है।

यह शरीर मोह-व्यूह का सबसे मुख्य आधार है। ममकार और अहकार मोह के पुत्र है। इनकी उत्पत्ति शरीर के माध्यम से ही होती है। अनात्मीय

तत्त्वो में आत्मीयता का अभिनिवेश होना ममकार है जैसे—मेरा शरीर, मेरा घर, मेरा पुत्र आदि। शरीर पौद्‌गलिक है। इसलिए वह अनात्मीय है। अनात्मीय तत्त्वो मे सबसे अधिक आत्मीयता की बृद्धि शरीर मे ही होती है। शरीर आत्मीय नही है और उसमे हमारी आत्मीयता की बुद्धि होती है। वही हमारे मन मे अनात्मीयता को आत्मीय मानने का संस्कार उत्पन्न करती है। फिर हम हर अनात्मीय वस्तु को आत्मीय मानने लग जाते हैं। ममकार के साथ-साथ अहकार का सस्कार भी पुष्ट होता जाता है। अहकर का अर्थ है आरोपित उपाधियो के सदर्भ मे अपने आपको देखना—जैसे मै बड़ा आदमी हूं, मैं अधिकारी हू, धनी हू, आदि-आदि। अहकार की राख जब गहरी हो जाती है, तब वह अस्तित्व की ज्योति को आच्छन्न कर देती है। इसलिए साधक अह को विसर्जित करने के लिए उसके निदान को खोजता है।

इस जगत् मे मूल तत्त्व दो है—चेतन और अचेतन। स्वरूप की दृष्टि से दोनो स्वतत्र है कितु इस जागतिक वातावरण मे वे एक-दूसरे से प्रभावित होते है और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। उनके पारस्परिक प्रभाव की प्रक्रिया को देखकर चेतन और अचेतन को सर्वथा स्वतत्र नही कहा जा सकता। चेतन का अस्तित्व देह के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। देह पौद्‌गलिक है। देह और चेतन मे गहरा सबध है। यह कब से है, इसका पता लगाना कठिन है। कितु इतना स्पष्ट है कि चेतन के बिना देह का निर्माण और स्थितिकरण नही होता और देह के बिना चेतन अपने आपको प्रकट नही कर पाता। तात्पर्य की भाषा मे चेतन और देह का सयोग ही बध या ससार है और उनका वियोग ही मुक्ति है।

हम किसी भी पदार्थ के स्वतत्र अस्तित्व को तब स्वीकार करते है, जब उसमे सब पदार्थो से विलक्षण कोई गुण मिलता है। चेतन मे चैतन्य गुण विलक्षण है। वह पुद्‌गल मे नही है। इसीलिए चेतन का स्वतत्र अस्तित्व है। आनद चैतन्य का ही एक विशेष अनुभव है। शक्ति चेतन और अचेतन दोनो मे ही होती है। इस प्रकार चेतन का मौलिक स्वरूप चैतन्य है। आनद और शक्ति—ये दोनो उसके सहवर्ती हैं। गुण और सहवर्ती गुणो की दृष्टि से हम चेतन की व्याख्या इन शब्दो मे कर सकते है

१ वह चिन्मय है ।

२. वह आनन्दमय है ।

३ वह शक्तिमय है ।

पुद्गल स्थूल शरीर के माध्यम से जीव को सहयोग देता है । वहां सूक्ष्म शरीर के माध्यम से वह जीव के अस्तित्व को आवृत, विकृत और प्रतिहत करता है । जीव का अनतरित सबध कार्मण शरीर से है । यह सूक्ष्म शरीर है । यह जीव को चार रूपो मे प्रभावित करता है ।

जीव मे सूर्य की भाति अखण्ड चैतन्य है, किंतु कार्मण शरीर के परमाणु-स्कध उसे आवृत करते हैं । इस आवरण के कारण जीव का प्रत्यक्ष ज्ञान नष्ट हो जाता है और परोक्ष ज्ञान भी अनेक स्तरो मे बट जाता है ।

जीव का आनद सहज (पदार्थ-निरपेक्ष) है, किंतु कार्मण शरीर उसे प्रभावित करता है, फलस्वरूप उसका मौलिक रूप विकृत हो जाता है और वह पदार्थ-सापेक्ष सुखानुभूति के रूप मे शेष रहता है ।

कार्मण शरीर जीव की नैसर्गिक शक्ति को प्रतिहत करता है । फलस्वरूप जीव स्थूल-शरीर के माध्यम से प्राप्त होने वाली शक्ति पर निर्भर रह जाता है ।

इस प्रकार कार्मण शरीर से प्रभावित जीव चैतन्य, आनद और शक्ति के मौलिक और असीम गुण से वचित रहकर केवल परमाणु-स्कध के माध्यम से प्राप्त होने वाले ज्ञान, सुख-सामर्थ्य पर अपना काम चलाता है ।

सूक्ष्म शरीर के सहारे स्थूल शरीर बनता है । उसमे इन्द्रिय और मन की क्षमता निष्पन्न होती है । इन्द्रिय और मन के सहारे जीव बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करता है– बाह्य विषयो को ग्रहण करता है । उनके प्रति राग और द्वेष उत्पन्न होता है और वे परमाणु स्कधो का आकर्षण करते है । उनसे कार्मण शरीर पुष्ट बनता है । इस प्रकार उक्त प्रक्रिया पुनरावृत्त होती रहती है । इस पुनरावृत्ति का मूल जीव और देह का सयोग है ।

जीवन मे जो घटित होता है, वह किसी एक ही कारण से नही होता । उसके पीछे कारण की सामग्री रहती है । उसमे एक कारण काल है । काल-मर्यादा का परिपाक होने पर जीव मे सत्य की जिज्ञासा जागृत होती है । वह

व्यवहार की भूमिका से ऊपर उठकर वास्तविकता की खोज करता है। वास्तविकता यह है कि चेतन और देह दो है। साधना का प्रारभ इसी बिंदु से होता है। जीव और देह की एकता का बोध जैसे बधन का मूल है वैसे ही उनकी भिन्नता का बोध मुक्ति का मूल है। जैसे-जैसे यह भेदज्ञान दृढ़ होता जाता है, वैसे-वैसे ही राग-द्वेष क्षीण होते जाते है। उनकी क्षीणता का अर्थ है–कार्मण शरीर की क्षीणता और कार्मण शरीर की क्षीणता का अर्थ है–जीव के स्वाभाविक स्वरूप का प्रादुर्भाव।

जीव और देह का भेद-ज्ञान होने पर भी वृत्तियो को प्रशान्त किए बिना भेद-ज्ञान दृढ नही होता। जीव की प्रवृत्ति के दो परिणाम होते है–कर्मबन्ध और सज्ञा-सरचना (वृत्ति या सस्कार-निर्माण) प्रवृत्ति के माध्यम से कर्म-परमाणु जीव के साथ सबध स्थपित कर लेते है, उसका नाम कर्मबन्ध है। प्रवृत्ति के साथ जो स्मृति का अनुबध हो जाता है, वह सज्ञा या वृत्ति है। बन्ध और सवर ये दोनो मन को चचल बनाते है और चचलता की स्थिति मे चैतन्य की शक्तिया विकसित नही होती।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा की व्याख्या विधि और निषेध–दोनो प्रकारो से की गई है। वह शब्द नही है, रूप नही है, गध नही है, रस नही है और स्पर्श नही है। फलत वह अमूर्त है, अदृश्य है। वह चेतन सत्ता है। वह अपद है–शब्दातीत है। वह तर्कातीत है। वह बुद्धि से परे है।

आत्मा और देह का सबध

आत्मा सूक्ष्म है और देह स्थूल है। प्राणी सूक्ष्म और स्थूल का यौगिक (मिश्रित) रूप है। इसकी गति सूक्ष्म और स्थूलता की ओर होती है।

आत्मा–भावमन–द्रव्यमन–मस्तिष्क–
- आख
- कान
- नाक–बाह्य जगत्
- जीभ
- स्पर्श

बद्ध-आत्मा को कर्म प्रभावित करते है। उनके द्वारा जीव के अध्यवसाय बाह्याभिमुख होते हैं। संचित सस्कार उस कार्य मे सहयोगी बनते हैं। बुद्धिचक्र बाह्याभिमुख भावनाओ को अपनी रश्मियों द्वारा आकर्षित करता है। अपने आवरण विलय (क्षायोपशमिक भाव) की योग्यता के अनुसार वह उस विषय पर ऊहापोह करता है, हेय और उपादेय की दृष्टि से मीमासा करता है और अपना निर्णय प्रस्तुत करता है। मन बुद्धि का ही एक केन्द्रीय विभाग है। अत वह चचल हो उठता है और आज्ञाकारी अनुचर की भाति बुद्धि के निर्णय को स्वीकार करता है। वह इन्द्रियो का स्वामी है, इसलिए स्वीकृत निर्णय को ज्ञानेन्द्रियो और कमेन्द्रियो तक पहुँचाकर उन्हे सहज क्रिया करने का निर्देश देता है। ज्ञानेन्द्रिया अपनी क्रियाओ को स्वाभाविक रूप से सपादित करती है। उससे पूर्वार्जित सस्कार समाप्त हो जाते है। उससे वृत्ति की नई गाठ नही घुलती।

मोह-मूढ़ आत्मा विषयाभिमुखता के कारण नए-नए सस्कार उत्पन्न करती रहती है। उससे क्रिया और प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है।

क्रियावाद : आस्रव

जीव अनन्त है। प्रत्येक जीव का अस्तित्व स्वतत्र है। वह न किसी के द्वारा निर्मित है और न सचालित। वह अनिर्मित है और अपने ही परिणामो से सचालित है। उसमे दो प्रकार के पयार्य होते है—स्वाभाविक और नैमित्तिक। स्वाभाविक पर्याय निमित्त-निरपेक्ष होते है। उससे जीव का अस्तित्व बना रहता है। नैमित्तिक पर्याय निमित्तो के आधार पर होते है। उससे जीव नानारूपो मे बदलता रहता है.। निमित्त दो प्रकार के होते है—आतरिक और बाह्य। राग और द्वेष—ये दो आतरिक निमित्त है। जीव के असख्य प्रदेश (अविभागी अवयव) होते है। वे सब चैतन्य स्वरूप है। वे चैतन्यमय होने के कारण प्रभास्वर और निर्मल होते है। राग और द्वेष जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ मिश्रित है। स्वभाव से प्रभास्वर और निर्मल चैतन्य उसके योग से आवृत और मलिन रहता है। इस योग (चैतन्य और राग-द्वेष) का आदि-बिदु ज्ञात नही है, इसलिए यह सबध अनादि माना जाता है। शरीरधारी जीव की परिणाम-धारा राग-द्वेष से युक्त होती है। राग-द्वेषयुक्त परिणाम नये-नये पुदगल-परमाणुओ को आकर्षित करता रहता है। जीव की परिणाम-धारा कर्म-परमाणुओ के आकर्षण का हेतु बनती है। इसलिए उसे आस्रव कहा जाता है। कर्म-परमाणुओ को आकर्षित करने की क्रिया को भी आस्रव कहा जाता है। पुदगल-परमाणुओ का आकर्षण काययोग (शारीरिक प्रवृत्ति) से

होता है। बाहरी पुद्गलों को आकर्षित करने वाले घटक के रूप में काययोग आस्रव बनता है। सभी कर्म-परमाणु काययोग के द्वारा ही आकर्षित होते है। जैसे तालाब मे नाले से जल आता है वैसे ही काययोग के द्वारा कर्म के परमाणु भीतर आकर जीव-प्रदेशो के साथ सबध स्थापित करते है। जैसे गीले कपड़े पर वायु द्वारा लाए हुए रजकरण चिपकते है, वैसे ही राग-द्वेष से गीले बने हुए जीव पर काययोग द्वारा लाए हुए कर्म-परमाणु चिपकते हैं। जैसे तपा हुआ लोहपिड जल-कणो को आत्मसात् कर लेता है वैसे ही कषाय से उत्तप्त जीवकर्म-परमाणुओ को आत्मसात् कर लेता है।

आस्रव के पांच प्रकार है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

मिथ्यात्व

ज्ञान आवृत होने पर मनुष्य जान नही पाता। नही जानना अज्ञान है। दृष्टि मूढ़ होने पर मनुष्य जानता हुआ भी सम्यक् नही जानता, विपरीत जानता है। यह मिथ्यात्व है। इस अवस्था मे इद्रिय-विषयो के प्रति तीव्रतम आसक्ति रहती है, क्रोध, मान, माया, और लोभ प्रबलतम होते है, मानसिक ग्रथिया बनती रहती है। वे जीवन-भर खुलती नही। व्यवहार मे क्रूरता अधिक रहती है। मिथ्यात्वी मनुष्य दु खद विषयो को सुखद मानता है और अशाश्वत विषयो को शाश्वत मानकर चलता है। उसमे असत्य का आग्रह होता है। वह पदार्थ को ही सर्वस्व मानता है। धन के प्रति उसमे तीव्रतम मूर्च्छा होती है। नैतिकता या प्रामाणिकता मे उसे कोई विश्वास नही होता।

अविरति

मनुष्य मे एक आकांक्षा की वृत्ति होती है। उसके कारण वह पदार्थ मे अनुरक्त होता है। उसे वह प्राप्त करना और भोगना चाहता है। उस वृत्ति के अस्तित्व मे वह पदार्थ से विरत नही होता। इसलिए उस वृत्ति का नाम अविरति है। इस अवस्था मे मनुष्य की दृष्टि पदार्थ के प्रति आकृष्ट होती रहती है। पदार्थ और धन के द्वारा होने वाले अनिष्ट परिणामो को जान लेने पर भी वह इन्हे छोड़ नही सकता। मूर्च्छा के कारण उसे भय सताता रहता

है। जीवन की आकाक्षा और मृत्यु का भय भी मन को विचलित करता रहता है। सामाजिक जीवन मे पारस्परिक टकरावो, सघर्षो और छीनाझपटी का कारण यह अविरति की मनोदशा ही है।

प्रमाद

प्रमाद का अर्थ है–विस्मृति। इससे आत्मा या चैतन्य की विस्मृति होती है। इस अवस्था मे मनुष्य का मन इद्रिय-विषयो के प्रति आकर्षित हो जाता है, शात बने हुए क्रोध, मान, माया और लोभ फिर उभर आते हैं, जागरूकता समाप्त हो जाती है, करणीय और अकरणीय का बोध धुधला हो जाता है।

प्रमाद का दूसरा अर्थ है–अनुत्साह। प्रमत्त अवस्था मे सयम और क्षमा आदि धर्मो के प्रति मन मे अनुत्साह आ जाता है, सत्य के आचरण मे शिथिलता आ जाती है। इससे आध्यात्मिक अकर्मण्यता और अलसता की स्थिति बन जाती है। वासना, भोजन आदि की चर्चा मे जो आकर्षण होता है वह आध्यात्मिक विकास की चर्चा मे नहीं होता।

कषाय

राग और द्वेष– ये तो मूल दोष है। राग माया और लोभ की प्रवृत्ति को तथा द्वेष क्रोध और अभिमान की प्रवृत्ति को जन्म देता है। ये चारो–क्रोध, मान, माया और लोभ चित्त को रगीन बना देते हैं, इसलिए इन्हे कषाय कहा जाता है। मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद–ये कषाय के उदय से ही निष्पन्न होते है। तीव्रतम कषाय[1] के उदयकाल मे सम्यग्दृष्टि उपलब्ध नही होती। तीव्रतर कषाय के उदयकाल मे आशिक विरति भी नही होती। तीव्र कषाय के उदयकाल मे पूर्ण विरति नही होती। मन्द कषाय के उदयकाल मे वीतरागता उपलब्ध नही होती। चारो कषायो के तीव्रता और मन्दता के आधार पर सोलह प्रकार बनते हे–

१ तीव्रतम क्रोध–पत्थर की रेखा के समान। (स्थिरतम)

---

१ कषाय चार है– क्रोध, मान, माया और लोभ। तीव्रतम कषाय को अनतानुबधी, तीव्रतर कषाय को अप्रत्याख्यानी, तीव्र कषाय को प्रत्याख्यानी और मद कषाय को सज्वलन कहा जाता है।

२ तीव्रतर क्रोध–मिट्टी की रेखा के समान। (स्थिरतर)
३. तीव्र क्रोध–धूलि की रेखा के समान। (स्थिर)
४ मद क्रोध–जल की रेखा के समान। (अस्थिर–तात्कालिक)
५ तीव्रतम मान–पत्थर के खभे के समान। (दृढ़तम)
६ तीव्रतर मान–हाड़ के खभे के समान। (दृढ़तर)
७ तीव्र मान–काष्ठ के खभे के समान। (दृढ़)
८ मद मान–लता के खभे के समान। (लचीला)
९ तीव्रतम माया–बास की जड़ के समान। (वक्रतम)
१० तीव्रतर माया–मेंढे के सींग के समान। (वक्रतर)
११ तीव्र माया– चलते बैल की मूत्रधारा के समान। (वक्र)
१२ मद माया–छिलते बास की छाल के समान। (स्वल्प वक्र)
१३ तीव्रतम लोभ–कृमि रेशम के समान। (गाढ़तम रग)
१४ तीव्रतर लोभ–कीचड़ के समान। (गाढ़तर रग)
१५ तीव्र लोभ–खजन के समान। (गाढ़ रग)
१६ मद लोभ–हल्दी के समान। (तत्काल उड़ने वाला रग)

इन कषायो को उत्तेजित करने वाले तत्त्वो को 'नो-कषय' कहा जाता है।

यहा 'नो' का अर्थ है–ईषद्, थोड़ा। 'नो-कषाय' नौ है–हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगुछा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेद।

मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद–इन तीनो आस्रवो के समाप्त हो जाने पर भी कषाय आस्रव से कर्म परमाणुओ का आगमन होता रहता है। कषाय के समाप्त हो जाने पर केवल योग से पुण्य कर्म का बध होता रहता है।

योग

मनुष्य के पास प्रवृत्ति के तीन साधन है–शरीर, वचन और मन। ये तीनो योग कहलाते है। योग का अर्थ है–प्रवृत्ति, चचलता या सक्रियता।

दु ख-सुख के हेतु

चार आस्रवो से चैतन्य मूर्च्छित होता है। इसलिए वे दु ख के हेतु बनते है। योग अपने आप मे दु ख और सुख का हेतु नही है। यह मिथ्यात्व आदि

चार आस्रवो मे प्रवृत्त होता है तब सुख का हेतु बन जाता है। इसके द्वारा कर्म-परमाणुओ का आस्रवण (आगमन) होता है, वह आस्रव है। कर्म-परमाणु जीव के प्रदेशो के साथ चिपके रहते है, वह बंध है। कर्मपरमाणु बधन के बाद अपनी स्थिति के अनुपात मे सत्ताकाल मे रहते हैं। फिर विपाक को प्राप्त कर, उदय मे आकर, निर्जीण हो जाते है। कर्म के उदयकल मे प्राणी को दु ख या सुख का अनुभव होता है। अध्यात्म की भाषा मे आस्रव दु ख या सुख का हेतु है। कर्म के उदय से होने वाली अनुभुति दु ख या सुख है। आस्रव का विरोध होने पर दु ख और सुख—दोनो के द्वार बद हो जाते है। उस स्थिति मे आत्मिक सुख का अनुभव होता है। जब तक आस्रव की क्रिया और चचलता रहती है तब तक मनुष्य दु ख और पौद्गलिक सुख की अनुभूति के चक्र मे जीता है। उसे सहज सुख का अनुभव नही होता। प्रत्येक जीव मे अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख और अनतशक्ति होती है। किंतु आस्रव के कारण यह अनत चतुष्टयी प्रगट नही हो पाती। इसके अस्तित्वकाल मे ज्ञान-दर्शन आवृत, सुख विकृत और शक्ति सुप्त रहती है। जीव मे जो अशुद्धि है वह स्वाभाविक नही है। वह सारी-की सारी आस्रव जनित है। इसके आधार पर ही जीव के दो विभाग बनते है– बद्ध और मुक्त। आस्रवयुक्त जीव बद्ध और आस्रव-रहित जीव मुक्त होता है। जब तक आस्रव-जनित वृत्तिया और कर्म रहते है तब तक आत्मा के मौलिक स्वरूप का साक्षात्कार नही होता। चित्त की निर्मलता, एकाग्रता, तपस्या, प्रतिपक्ष-भावना या ध्यान-साधना के द्वारा आस्रव की शक्ति को क्षीण करने पर ही आत्मा के स्वरूप की अनुभूति हो सकती है। सक्षोप मे जैन दर्शन का सार यह है—आस्रव दु ख का हेतु है और सवर सहज सुख का।

प्रतिक्रियावाद : कर्म

दो महत्त्वपूर्ण खोजे आत्मा और कर्म

भारतीय दार्शनिको ने कुछ महत्वपूर्ण खोजे की है। उनमे सबसे महत्त्वपूर्ण खोज है आत्मा। आत्मा की खोज ने सचमुच दर्शन के क्षेत्र मे एक बहुत बड़ी क्राति की। चैतन्य की स्वतत्र सत्ता का अनुभव जिस दिन हुआ उस दिन एक बहुत बड़ी उपलब्धि हुई। उस दिन उस तत्त्व का अनुभव किया जो अज्ञात था, अमूर्त था, जिसे चर्म-चक्षुओ से नही देखा जा सकता था। आत्म-तत्त्व की स्थापना हुई, चैतन्य की स्वतत्र सत्ता स्थापित हुई।

दूसरी महत्त्वपूर्ण खोज है–कर्म। कर्म की खोज ने बहुत बड़े सत्य का उद्घाटन किया। आत्मा और कर्म इन दो उपलब्धियो ने अध्यात्म के क्षेत्र को बहुत विस्तार दिया।

अध्यात्म के मूलभूत आधार दो है–आत्मा और कर्म। यदि हम आत्मा और कर्म को हटा ले तो अध्यात्म आधारशून्य हो जाता है। उसका कोई आधार नही रह पाता। अध्यात्म की समूची योजना, समूची परिकल्पना और व्यवस्था इस आधार पर है कि आत्मा को कर्म से मुक्त करना है। यदि आत्मा नही है तो किसे मुक्त किया जाए ? यदि कर्म नही है तो किससे मुक्त किया जाए ? कोई व्यवस्था नही बनती। 'आत्मा को कर्म से मुक्त करता है' इस सीमा मे समूचा अध्यात्म समा जाता है।

आत्मा और मुक्तात्मा–दोनो के बीच कर्म का एक सूत्र है जो समूचा विस्तार करता है। दो प्रकार की आत्माए है–बद्ध और मुक्त। जो कर्मयुक्त है वह बद्ध आत्मा है और जो कर्ममुक्त है वह मुक्तात्मा है। बद्ध और मुक्त आत्मा के बीच की जो सारी परिक्रमा है वह है अध्यात्म। अध्यात्म को समझने के लिए आत्मा को समझना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है कर्म को समझना। जितना कर्म को समझना जरूरी है, उतना ही जरूरी है आत्मा को समझना। दोनो को समझे बिना अध्यात्म को नही समझा जा सकता। इसलिए आत्मा को समझना जितना प्राथमिक और आवश्यक है उतना ही कर्म को समझना भी प्राथमिक और आवश्यक है। एक के बिना दूसरे को नही समझा जा सकता। इसलिए हमे कर्म के विषय मे मीमासा करनी है।

अर्थ-क्रिया द्रव्य का लक्षण

आत्मा एक द्रव्य है। जो द्रव्य होता है वह क्रियाकारी होता है। द्रव्य का लक्षण है–अर्थ क्रियाकारित्वम्। जो अर्थ-क्रिया करता है अर्थात् कोई-न-कोई क्रिया करता है उसका ही अस्तित्व होता है। जिसमे कोई क्रिया नही होती उसका कोई अस्तित्व नही होता। दो शब्द हैं–अस्तित्व और अनस्तित्व है। जिसकी सत्ता है वह अस्तित्व है, जिसकी सत्ता नही है वह अनस्तित्व। अस्तित्व और अनस्तित्व मे यह भेदरेखा है कि जिसमे क्रिया होती है वह है अस्तित्व और जिसमे क्रिया नही होती वह है अनस्तित्व। तर्कशास्त्र मे अनस्तित्व के अनेक उदाहरण दिये जाते हैं–आकशकुसुम, वन्ध्यापुत्र, शशशृग, तुरग-शृग आदि- आदि। शशश्रृग–खरगोश के सींग का कोई अस्तित्व नही होता, क्योकि उसकी कोई क्रिया नही मिलती। वन्ध्यापुत्र का अस्तित्व इसीलिए नही है कि उसकी कोई क्रिया उपलब्ध नही होती। आकाशकुसुम की कोई क्रिया प्राप्त नही है, इसलिए वह अस्तित्वशून्य है। जिसकी क्रिया नही है उसका अस्तित्व नही है। जिसकी क्रिया है उसका अस्तित्व भी है।

प्रत्येक द्रव्य क्रिया करता है। आत्मा एक द्रव्य है। उसकी अपनी क्रिया है। उसका अपना स्वरूप है। उसका अपना स्वभाव है। आत्मा का स्वभाव, आत्मा का स्वरूप, आत्मा की सहज क्रिया है जानना और देखना। चेतना

का केवल इतना ही काम है—जानना और देखना । उसके अतिरिक्त उसका कोई काम नही है । इसके अतिरिक्त आत्मा का कोई स्वरूप या स्वभाव नही है । उसका समूचा स्वभाव इसी मे गर्भित है कि जानो और देखो ।

कर्त्ता और कर्म

दो प्रकार की क्रियाए है—होना और करना । 'अहमस्मि'—मै हू—यह होना भी एक क्रिया है। 'तुम हो'—यह होना भी एक क्रिया है । 'है'—यह भी एक क्रिया है । 'अह करोमि'—मै करता हू—यह करना भी एक क्रिया है । होना और करना—इनमे इतना-सा अतर है कि जहा 'हू' है वहा केवल अस्तित्व का सूचक होता है, कोरी स्वाभविक क्रिया है । कोई बाहरी सयोग की क्रिया नही है । और जहा 'अह करोमि'—मै करता हू—वहा दो बाते आ जाती है । 'अह कार्य करोमि'—मै काम करता हू । यहा एक कर्त्ता—Subject है और एक कर्म—Object है । कर्त्ता और कर्म—ये दो है । 'मै काम करता हू'—यहा दो बन गये । जहा केवल होना है, होने मे दो नही है । 'हू' वहा कोई द्वैत नही है । किन्तु जहा 'मै काम करता हू' वहा मै अलग हो गया और काम अलग हो गया । कर्त्ता अलग हो गया, कर्म अलग हो गया । यह स्वाभविक क्रिया नही रही, वैभाविक क्रिया हो गई, अस्वाभाविक क्रिया हो गई । आत्मा जानता है, देखता है—यह स्वाभविक क्रिया है, क्योकि यह आत्मा का अपना स्वभाव है, अपनी क्रिया है । यह किसी के सयोग से होने वाली क्रिया नही है । यह आरोपित क्रिया नही है, किसी के माध्यम मे होने वाली क्रिया नही है ।

स्वाभाविक वैभाविक

मै जानता हू, देखता हू यह मेरा अपना स्वभाव है । किंतु मै बोलता हू, यह क्रिया अवश्य है, पर स्वाभाविक नही । यह स्वाभाविक प्रवृत्ति नही है, सायोगिक प्रवृत्ति है । न आत्मा बोलती है और न यह शरीर बोलता है । आत्मा और शरीर का जब योग होता है, तब 'प्राणशक्ति' पैदा होती है । हमारे शरीर मे ऊर्जा है, तैजस या विद्युत् है । उस ऊर्जा शक्ति का सचालन होता है और मै बोल लेता हू । यह बोलने की क्रिया, सोचने की क्रिया, खाने

की क्रिया, श्वास लेने की क्रिया—ये सारी क्रियाए अस्वाभविक हैं। मन का कर्म, वचन का कर्म और शरीर का कर्म—ये सारे अस्वाभाविक है, वैभाविक क्रियाए है।

कर्म है कार्य-कारण की खोज

जिन लोगो ने कर्म की खोज की, उन्होने एक नियम को खोजा। जैसे वैज्ञानिक प्रकृति के नियम की खोज करता है, वैसे ही एक द्रष्टा ने, बुद्धि के स्तर पर नही किंतु अनुभव के स्तर पर एक नियम खोज निकाला। वह नियम यह है—जहा वैभाविक क्रिया होगी वहा आत्मा का बधन होगा। यह कार्य-कारण का नियम है। कोई भी कार्य कारण के बिना नही होता। हमारा बधन भी कारण के बिना नही हो सकता। यह एक नियम की खोज है, नियता की खोज नही है। नियता नियामक होता है, नियमन करने वाला होता है। नियम स्वाभाविक होता है, बनाया नही जाता। यह शाश्वत व्यवस्था है, बनायी हुई व्यवस्था नही है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—जो नियम है वह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है। इसे किसी ने बनाया नही है। वह नियम यह है—जहा आत्मा जानने-देखने की क्रिया से हटकर और कोई भी क्रिया करता है, वहा बधन होता है। यह है बधन का नियम। आत्मा बधता है।

प्रवृत्ति है बधन

कर्म के दो अर्थ है—प्रवृत्ति और बधन। बधन और प्रवृत्ति दोनो एक हो जाते है। हमारी कोई भी वैभाविक प्रवृत्ति ऐसी नही है जहा कि बधन न हो। जहा बधन है वहा प्रवृत्ति है और जहा प्रवृत्ति है वहा बधन है। एक को देखकर दूसरे को जाना जा सकता है। धुए को देखकर आग को जाना जा सकता है। यह एक निश्चित व्याप्ति है—कि जहा धुआ है वहा अग्नि है। अग्नि के बिना धुआ हो भी नही सकता। यह तर्कशास्त्र की निश्चित व्याप्ति है—'यत्र यत्र धूम तत्र तत्र वह्नि ।' जहा धुआ है वहा अग्नि है। व्याप्ति एक ही है—जहा धुआ है वहा अग्नि है, यह तो नियम है किंतु जहा अग्नि है वहा धुआ होगा—यह नियम नही बनता। धुआ हो भी सकता है और नही भी हो सकता। किंतु यह दोहरी व्याप्ति कि जहा प्रवृत्ति है वहा

बंधन है और जहा बंधन है वहां प्रवृत्ति है। आप किसी एक बात को पकड़ ले, दूसरी अपने आप आ जाएगी। हमारी कोई भी प्रवृत्ति, चाहे वह शरीर की हो, मन की हो या वाणी की हो, उससे बधन होता है, कर्म बधता है। जहां प्रवृत्ति होगी वहां बधन होगा। जो भी व्यक्ति प्रवृत्ति करेगा, बधेगा। ऐसा नहीं होता कि प्रवृत्ति तो है और बधन नही है। यह बहुत बड़ी समस्या है कि जहा प्रवृत्ति है वहा बधन निश्चित है। प्रवृत्ति होती रहेगी, बधन होता रहेगा। फिर उस बधन से मुक्ति कैसे होगी ? उससे छुटकारा कैसे मिलेगा ?

कषाय चेतना है चिकनाहट

प्रवृत्ति के साथ कुछ आता है। क्रिया के साथ कुछ बाहर से आता है। जो आता है, उसे तो चले जाना चाहिए। जो आगन्तुक है, बाहर से आया है, उसे तो जाना ही होगा। कितु उसे रोकने वाला भी है। हमने एक प्रव्रत्ति की, बाहर से कुछ आया। पुद्‌गल आये और हमारे साथ जुड़ गये। प्रवृत्ति का कार्य समाप्त हो गया। कितु भीतर मे एक चिकनाहट ऐसी है कि वह आने वाली धूल को, आने वाले पुद्‌गलो को पकड़ लेती है। दीवार पर आप धूल फेके। धूल भी सुखी है और यदि दीवार चिकनी नही है तो धूल उस दीवार पर चिपकेगी नही। धूल जैसे ही डाली, दीवार का स्पर्श हुआ और वह नीचे गिर जाएगी, टिकेगी नही। कितु यदि धूल गीली है तो थोड़ी टिक जाएगी। यदि दीवार चिकनी है तो वह धूल को पकड़ लेगी। धूल उस पर चिपक जाएगी।

हमारी चेतना की एक परिणति के साथ चिकनाहट जुड़ी हुई है। वह चिकनाहट है—कषाय, राग और द्वेष। राग और द्वेष की चिकनाहट जुड़ी है। वह बाहर से जो कुछ आता है उसे पकड़ लेती है। उस चिकनाहट पर वह चिपक जाती है। दो बाते हो गई। प्रवृत्ति का काम है खीचना, बाहर से कुछ लाना और कषाय का काम है उसे चिपकाकर रखना। बाहर से जो आता है वह है कर्म। कषाय उसे चिपकाकर रख लेता है। उसे जाने नही देता। जो चिपकता है वह है कर्म और जो चिपकाता है वह है कषाय। किन्तु कर्म वही नही है जो चिपकता है। एक कर्म और भी है, जो बाहर से आता है। बाहर से लाने के लिए के लिए जो प्रवृत्त होता है, वह भी कर्म है। उसकी सज्ञा है आस्रव। कर्मशास्त्र की परिभाषा मे आस्रव को भाव कर्म कहा जाता

है और उसके द्वारा जो पुद्गल खिचा ही आ आता है, वह है द्रव्य कर्म। वास्तव मे जो पुद्गल है वे कर्म नही है। वास्तविक कर्म है--आस्रव। यदि आस्रव न हो, आग प्रज्ज्वलित न हो तो केवल ईधन कुछ भी नही कर सकता। ईधन आग को तब भभकाता है जब आग प्रज्ज्वलित है। जलती हुई आग मे ईधन डालते चले जाए, आग भभकती रहेगी। बुझी हुई आग के लिए ईंधन का कोई अर्थ नही होता। यदि कषाय न हो, राग-द्वेष न हो तो कर्म का कोई अर्थ नही होता। पुद्गल भीतर आए और चले जाए, कोई बाधा नही आएगी। किंतु हमारे भीतर जो राग और द्वेष की आग जल रही है, कषाय की आग भभक रही है, उस आग मे जब ये पुद्गल ईधन रूप में गिरते है, वे आग को और अधिक प्रज्ज्वलित कर देते हैं। आग को प्रज्ज्वलित करने वाले पुद्गल भी कर्म है और जो आग जल रही है, वह भी कर्म है।

कषाय बाधता है

कर्म एक नियम है। यह क्रिया के साथ घटित होने वाला सिद्धात है। हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे या तो राग की प्रेरणा होती है या द्वेष की प्रेरणा हौती है। जब-जब राग और द्वेष की प्रेरणा होती है, तब पुद्गल आते है उन पुद्गलो को कषाय बाध लेता है। वे बध जाते है। कर्मशास्त्रीय भाषा मे प्रवृत्ति या योग कर्मो का आकर्षण करता है, कर्म पुद्गलो को खीचता है। कषाय उनका स्थितिबध करता है। कर्म का आकर्षण होता है योग या प्रवृत्ति से और उनकी स्थिति का निर्धारण होता है कषाय से। जिनके कषाय नही होता जिनके राग-द्वेष क्षीण हो चुके है, उनके प्रवृत्ति तो होती है, उससे कर्म पुद्गल भी आते है, किंतु वे आते है और चले जाते है, रुकते नही, बधते नही। जैसे सूखी भीत पर सूखी रेत डाली, भीत का स्पर्श कर रेत नीचे गिर जाती है, वैसे ही कर्म के पुद्गल आते है और गिर जाते है, चले जाते है। फिर आते है, फिर चले जाते है। उनके टिकने का कोई कारण शेष नही है। यह क्रम तब तक चलता है जब तक कि पूर्ण बधन-मुक्ति नही हो जाती।

कर्म है कार्य, कारण है आस्रव

कर्म क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे हमने यह जाना कि यह एक क्रिया का सिद्धात है, कार्य-कारण का सिद्धात है, कार्य-कारण की खोज है कि जो

कुछ भी घटित होता है उसके पीछे एक कारण होता है, एक कार्य होता है। जो कारण है वह आस्रव है और जो कार्य है वह कर्म है।

हम कुछ भी करते है उसकी पुनरावृत्ति होती है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। हमने एक प्रवृत्ति की। प्रवृत्ति समाप्त हो गई, किंतु इसकी प्रतिक्रिया समाप्त नहीं हुई। ध्वनि समाप्त हो गई, किंतु प्रतिध्वनि समाप्त नहीं हुई। ध्वनि की प्रतिध्वनि रह जाती है। हम गहरे कुए मे झाककर बोलते है, प्रतिध्वनि होती है। मकान के भीतर जाकर बोलते है, प्रतिध्वनि होती है। प्रतिध्वनि लम्बी होती है, ध्वनि छोटी होती है। क्रिया छोटी होती है, प्रतिक्रिया लम्बे समय तक चलती रहती है। छोटी क्रिया, बड़ी प्रतिक्रिया। क्रिया की प्रतिक्रिया, ध्वनि की प्रतिध्वनि, प्रवृत्ति की प्रति-प्रवृत्ति होती है, पुनरावृत्ति होती है। बार-बार दोहराई जाती है।

क्रिया एक प्रतिक्रिया अनेक

एक आदमी कोई चीज खाता है। उसने खा ली। बात समाप्त हो गई। किन्तु यथार्थ मे बात समाप्त नही हुई। खाना बद हो गया किंतु एक बार जो खाया वह मस्तिष्क के स्मृति-कोष्ठो मे अंकित हो गया। वह समाप्त नही हुआ। वह अपना संस्कार छोड़ गया। एक वृत्ति बन गई। एक प्रतिक्रिया शेष रह गई। फिर जैसे ही निमित्त मिलता है, समय आता है, स्मृति उभर आती है, वृत्ति उभर आती है। फिर उस वस्तु की याद आते ही, उसके सामने आते ही जीभ से पानी टपकने लगता है। लार टपक पड़ती है। क्रिया तो समाप्त हो गई, प्रतिक्रिया समाप्त नही हुई। वह चलती रहती है। उसकी शृखला बहुत लम्बी है। इतनी लम्बी शृखला है कि एक बार के कारण वह हजार बार भी दोहरा ली जाती है। इसलिए महावीर ने कहा—एक बार भी भूल मत करो। यह अप्रमाद का सिद्धात है। प्रमाद मत करो, भूल मत करो। क्योंकि एक बार का प्रमाद या भूल हजार बार भी दोहराई जा सकती है, इसलिए एक बार भी भूल मत करो, प्रमाद मत करो। अन्यथा बार-बार उसकी आवृत्तिया होती रहेंगी।

कर्म: प्रतिक्रिया का सिद्धात

कोई आदमी प्रवृत्ति नही करता तो उसका सस्कार भी नही बनता।

प्रतिक्रिया नही होती । फिर करने के लिए प्रेरणा नही जागती । किंतु जब एक बार कर लिया जाता है तब दूसरी बार भी करने की भावना जागती है । फिर स्मृति उभरती है और फिर करने की बात आती है । यह दोहराने की बात, पुनरावृत्ति का सिद्धात ही कर्म सिद्धात है । कर्म का सिद्धात मनोवैज्ञानिक सिद्धात है । एक बार जो प्रवृत्ति तुमने कर ली, अर्थात कर्म का बधन अपने ऊपर डाल दिया । यह, ऐसा बधन है कि फिर उस प्रवृत्ति से मुक्त होना तुम्हारे वश की बात नही रही, सहज बात नही रही । बहुत ही जटिल बात हो गई । न करने तक ठीक था कि यह नही किया । बात समाप्त हो गई कि यह नही किया । कुछ नही हुआ । किन्तु एक बार भी यदि किया तो फिर न करना सरल नही रहा । फिर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली । और सताने वाली बात पैदा हो गई । यह प्रतिक्रिया का सिद्धात ही कर्म का सिद्धात है । एक बार जो रास्ता पड़ गया, डाडी बन गई, फिर उसे मिटा पाना सरल नही होता । आदमी जाने-अनजाने उस मार्ग से चलने लग जाता है ।

कर्म का मतलब है–एक सस्कार का निर्माण, एक चित्तवृत्ति का निर्माण, एक ऐसे रास्ते का निर्माण जिस रास्ते से पानी अपने आप चला जाए । यदि एक बार भी पानी के जाने का रास्ता बना डाला तो फिर जैसे ही पानी आया, वह उस रास्ते से बह जाएगा । हमने एक ऐसी ढालू जमीन बना ली कि पानी अपने आप सरक जाएगा, बह जाएगा । हमने अपने मस्तिष्क मे एक ऐसा अकन पैदा कर लिया कि वह अकन पुन उस प्रवृत्ति को करने के लिए हमें बाधित करता है । वह हमे तब तक उस प्रवृत्ति को दोहराने के लिए बाधित करता रहेगा जब तक कि वह मूलत नष्ट न हो जाए, नष्ट न कर दिया जाए । यह सस्कार का निर्माण कर्म है, यह चित्तवृत्ति का निर्माण कर्म है, यह प्रतिक्रिया पैदा करने वाला सिद्धात कर्म है ।

कर्म सस्कार भी, पुद्गल भी

कर्म दो स्थानो पर घटित होता है । एक है चेतना की वह अवस्था अर्थात् वह चित्तवृत्ति जिसका हमने किन्ही आचरणो के द्वारा, प्रवृत्तियो के द्वारा निर्माण किया है । वह चित्तवृत्ति ही कर्म है । एक है वह पुद्गल समूह जो

हमारी चित्तवृत्ति को उभारता है, उसे सहारा देता है। जलती आग में ईंधन का काम करने वाला पुद्गल समूह भी कर्म है, जैसे कि कुछ दार्शनिकों ने कर्म को केवल चित्त-सस्कार के रूप मे स्वीकार किया है। कर्म को केवल सस्कार माना है। जैन दर्शन ने उसे केवल सस्कार नही माना, कर्म-पुद्गल माना है। कर्म भी पदार्थ है, पौद्गलिक है, द्रव्य है। यह हमारी चेतना की जलती हुई आग मे ईंधन का काम करता है और अपना सहारा देता है।

कर्म के दो अर्थ

कर्म के दो अर्थ हो गए– एक है चित्त की वृत्ति, चेतना का परिणमन और दूसरा है आस्रव। आस्रव अर्थात् निरतर बहने वाली धारा। एक भी क्षण ऐसा नही आता कि हमारी राग-द्वेष की आग बुझ जाए। एक आदमी शात बैठा है। ऐसा नही लगता कि उसमे कोई राग-द्वेष है। पूर्ण रूप से शात है। आप उसके भीतर झाककर देखे। अपने आपको भी शात महसूस करने वाले आप अपनी चेतना को भीतर ले जाए और गहराई मे देखे। आपको लगेगा कि जो बाहर से शात प्रतीत होता है उसके भीतर भी राग-द्वेष की आग भभक रही है। वह आग निरतर जलने वाली आग है। किसी मे मिथ्या दृष्टिकोण की आग जल रही है। वह व्यक्ति असत्य के प्रति अभिनिवेश रखता है। वह हर बात को आग्रह से स्वीकार करता है। वह एकागी दृष्टिकोण से देखता है और प्रत्येक सत्य की काट-छाट के लिए प्रस्तुत रहता है। राग-द्वेष की तीव्र आग उसमे जल रही है। कुछ व्यक्तियो मे मिथ्या दृष्टिकोण की आग इतनी तीव्र नही होती, कितु आकाक्षा की आग तीव्र होती है। चाह और चाह। कही उसका अत नही आता। इतनी आकाक्षा, इतना असयम, इतनी आशसा, हर बात की चाह से सकुल। यह है अव्रत आस्रव। अव्रत की आग निरतर जलने वाली आग है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते है जिनमे न मिथ्या अभिनिवेश होता है और न आकाक्षा होती है। दोनो की आग बुझी हुई होती है। किन्तु उनमे भी प्रमाद की आग जलती रहती है। प्रमाद का अर्थ है–अपनी विस्मृति, अपने स्वरूप की विस्मृति, अपने आप को भूल जाना, अपने अस्तित्व को भूल जाना। यह भी एक आग है जो जलती रहती है। प्रमाद आस्रव व्यक्ति में निरतर रहता है। व्यक्ति मे कषाय की आग जलती ही रहती है। इसका ताप कभी

नही मिटता । इसका ताप ही सब आगो के जलने का प्रेरक तत्त्व है । यह चार प्रकार की आग–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय–हमारे भीतर निरतर प्रज्ज्वलित रहती है । ये चार आस्रव की अग्निया अपने आप अपने ईंधन को खीचती हैं और जलती रहती है । पुराने ईधन चुक जाते हैं, नये ईंधन आते रहते है । यह आग कभी बुझ नही पाती ।

एक चीज और है जिसे हम आग तो नही कहेगे किंतु आग के साथ होने वाली वायु अवश्य कहेगे । वायु के बिना आग नही जलती । यह एक अकाट्य नियम है–यत्र अग्निस्तत्र वायु –जहा आग है वहा वायु है । वायु के बिना आग नही जलती । जैसे जीने के लिए प्राणवायु की आवश्यकता होती है वैसे ही जलने के लिए भी प्राणवायु (ऑक्सीजन) की आवश्यकता होती है । अग्निया चार है–मिथ्यात्व की अग्नि, अव्रत की अग्नि, प्रमाद की अग्नि और कषाय की अग्नि । कर्म-पुद्गल इन अग्नियो के लिए ईंधन है, किंतु पवन है–योग, प्रवृत्ति । योग वायु का काम करता है । योग का अर्थ है–प्रवृत्ति, चचलता विक्षेप । जितनी तीव्र हमारी चचलता होगी, प्रवृत्ति होगी, विक्षेप होगा, उतनी ही तीव्र वायु चलेगी और उतनी ही तीव्रता से पुद्गल आएगे और आग को जलने मे सहायता करते रहेगे । वायु का काम करता है–योग आस्रव । योग का अर्थ है–प्रवृत्ति । समूची प्रवृत्ति का मतलब है वायु । वायु स्वय नही जलती । जलाना इसका काम नही है । जलाने का काम है उन चार आस्रवो का–मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद और कषाय का । किंतु जलाने का सबसे बडा प्रेरक तत्त्व है योग आस्रव, प्रवृत्ति, मन की प्रवृत्ति, वचन की प्रवृत्ति और शरीर की प्रवृत्ति । योग तीन है–मनयोग, वचनयोग और काययोग । योग जलती हुई आग को और अधिक प्रज्ज्वलित कर देता है । यह आग मे पूला डालने जैसा है ।

इस प्रकार कर्म के दो रूप हमारे सामने है–एक है चित्तवृत्ति और दूसरा है कर्म का पुद्गल समूह । इन दोनो को कर्म कहा गया है । एक की सज्ञा है–'भावकर्म, और दूसरे की सज्ञा है–'द्रव्यकर्म' ।

कर्म कर्म को बाधता है

कर्म-ग्रहण और कर्म-परिणमन का चक्र निरतर चलता रहता है । कर्म से कर्म । इस सदर्भ मे कुछ प्रश्न उपस्थित होते है । जीव है चेतन और अमूर्त ।

कर्म है अचेतन और मूर्त । मूर्त का अमूर्त के साथ सबध कैसे हो सकता है ? क्या कोई सबध है इनमे ? यदि कोई भी सबध नही है, तब तो कोई चिता की बात नही है । कर्म अपने मे और जीव अपने मे दोनो अलग-अलग है तो कोई बात नही । चिता तब होती है जब कोई सबध स्थापित होता है, कोई जुड़ता है । यदि सबध है तो फिर प्रश्न होता है कि यह सबध कैसे हो सकता है ? चेतन का अचेतन के साथ सबध कैसे होगा । मूर्त का अमूर्त के साथ और अमूर्त का मूर्त के साथ सबध कैसे होगा ? यह एक बहुत बड़ी पहेली सामने आती है । हम इसे अस्वीकर नही करेगे कि जीव और कर्म मे कोई संबंध नही है । यदि सबध को स्वीकार न करे तब तो कर्म को स्वीकार करने का कोई अर्थ ही नही होता । हम यह स्वीकार करेगे कि जीव और कर्म मे सबध है । इस स्वीकृति के पश्चात् हमे दूसरे प्रश्न पर विचार करना होगा कि सबध है तो वह कैसे स्थापित हुआ ? अमूर्त और मूर्त मे सबध स्थापित होता है चेतन और अचेतन मे सबध स्थापित होता है और हम इसका अनुभव भी करते है । सबध स्थापित हुआ है एक माध्यम के द्वारा और वह माध्यम है—स्वय मूर्त होने का । चेतन अमूर्त है—यह एक सिद्वात है । किंतु अमूर्त हो गया—यह सही नही है । अमूर्त है—यह तो भविष्य की एक कल्पना है । जिस दिन जीव अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित होगा, उस दिन चेतन अमूर्त हो जाएगा । किंतु वह अमूर्त है, यह हमारी वार्तमानिक मान्यता है । जो शरीरधारी जीव है, वह अमूर्त नही है । मर जाने के बाद भी, स्थूल शरीर छोड़ देने के बाद भी यह जीव सूक्ष्म शरीर के बधन से मुक्त नही होता, उस जीव को हम अमूर्त कैसे माने ? ऐसा मानने का कोई कारण नही है । जिस दिन यह सूक्ष्म शरीर छूट जाएगा, हमारा जीव अमूर्त बन जाएगा । जिस दिन वह अमूर्त बन जाएगा, फिर मूर्त के साथ उसका सबध कभी स्थापित नही होगा । वर्तमान मे यह जीव अमूर्त नही है । वह मूर्त है क्योकि सूक्ष्म शरीर दो है—तैजस और कार्मण । कार्मण शरीर अर्थात् कर्म का शरीर ही कर्म को खीचता है । कर्म-शरीर ही कर्म को पकड़ता है । कर्म-शरीर ही शरीर को बॉधता है । जीव कर्म को न खीचता है, न पकड़ता है और न बाधता है ।

सूक्ष्म शरीर को समझ लेने के पश्चात् कर्म की पूरी कल्पना स्पष्ट हो जाती है ।

बधन और मुक्ति

इस प्रकार आत्मा और कर्म—इन दो खोजो ने समूचे अध्यात्म-जगत् को अपने प्रकाश से प्रकाशित किया। कर्म कार्य-कारण के नियम की खोज है। यह उस नियम की खोज है कि किसी सयोग से होने वाली प्रवृत्ति हमेशा बांधती है। स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी नही बाधती। जहा आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है—जानना और देखना, वहा कोई बंधन नही होता। किंतु जहा पुद्गल के योग से होने वाली प्रवृत्ति है, वहा बधन है।

कर्म जीव से सबध रखता है और उस सबध का सूत्र है—कार्मण शरीर या जीव का स्वय मूर्तिमान् जैसा हो जाना। वर्तमान स्वरूप मे जीव मूर्त होता है। इसलिए जीव और कर्म के सबध-स्थापन मे कोई समस्या पैदा नही होती।

हमारा चैतन्य कर्म-पुद्गलो के द्वारा आवृत है। तपोयोग के द्वारा इसे अनावृत किया जा सकता है। हमारा आनद मोह के द्वारा विकृत बना हुआ है। उसे तपोयोग के द्वारा विशुद्ध किया जा सकता है। हमारी शक्ति अतराय के द्वारा प्रतिहत हो रही है। उसे तपोयोग के द्वारा निर्बाध किया जा सकता है। हम अतीत मे किए हुए को बदल सकते है। यही साधना की सबसे बड़ी प्रेरणा है। इसी प्रेरणा से प्रेरित होकर मनुष्य साधना के क्षेत्र मे अपना चरण-विन्यास करता है।

२

साधना की भूमिकाएं

- मूढ़ता
- अन्तर्दृष्टि (१)
- अन्तर्दृष्टि (२)
- अन्तर्दृष्टि (३)
- अन्तर्दृष्टि (४)
- अन्तर्दृष्टि (५)
- समत्व
- अप्रमाद, वीतराग और केवली

मूढ़ता

आधि से व्याधि का निदान

वर्तमान युग की सबसे बडी चिता है--मनोविकार, आधि, मानसिक रोग। शारीरिक व्याधिया होती है। मनुष्य उनके लिए चिता भी करता है और उनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न भी करता है। जब शरीर मे कोई व्याधि होती है तब हमारा ध्यान शरीर की ओर जाता है। कोई दोष हुआ है, वात, पित्त या कफ कुपित हुआ है, कोई विजातीय तत्त्व सचित हो गया है या शरीर मे कीटाणु प्रविष्ट हो गये है, जिससे शरीर मे व्याधि हुई है। शरीर की व्याधि का मूल शरीर मे ही खोजा जाता है, शरीर की प्रकृति मे, शरीर के दोषो मे या शरीर पर होने वाले बाहरी सक्रमणो मे। कितु शरीर की व्याधि का जो एक मूल है, उस ओर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है। वह है आधि, मानसिक विकृति। शरीर की बीमारी को व्याधि और मानसिक बीमारी को आधि कहते है। व्याधि जब होती है तब हमारा ध्यान जाना चाहिए, सबसे पहले आधि पर, विकृति पर। शरीर मे कोई व्याधि उत्पन्न हो तब अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति को सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि कहा मेरी भूल हुई है ? कहा मन मे कोई विकार आया है ? कौन सी आधि हुई है जिससे मैं शरीर की व्याधि भुगत रहा हू ? केवल अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति के लिए ही नही, हर बीमार होने वाले व्यक्ति के

लिए यह नियम लागू होता है। हर रुग्ण व्यक्ति को ध्यान देना चाहिए कि शरीर मे जो व्याधि उभरी है, उसके पीछे कौन-सी आधि खड़ी है। यदि हम अपनी शारीरिक व्याधियो के लिए मानसिक विकृतियो पर ध्यान देना प्रारभ करे तो व्याधि के सही निदान तक पहुच सकते हैं। हमारा विश्वास है कि डॉक्टरो से निदान करवा लिया, एक्सरे करवा लिया, फोटो ले लिए, वैज्ञानिक युग के जितने निदान के उपकरण है उनका उपयोग कर लिया, टैस्ट करा लिया, वैद्यो को नब्ज दिखला दी, समझते है निदान हो गया। इतना करने पर भी पूरा निदान नही होता। उसकी एक बड़ी आधार-भित्ति छूट जाती है। वह है मानसिक विकृतियो की खोज। गहरे मे उतरकर हम अपनी मानसिक विकृतियो तक नही पहुचते , उन्हे नही टटोलते, उनका प्रतिलेखन नही करते, तब तक व्याधि का सही निदान हमारे हाथ नही लगता।

मनोविकार का हेतु मन की मलिनता

हम मानसिक विकृतियो पर ध्यान दे। आज के युग की सबसे बडी समस्या है मानसिक विकृति। हो सकता है कि अतीत मे भी कभी इतनी मानसिक विकृति हुई हो, कितु इसकी कम सभावना है। आज मानसिक विकृति या मानसिक रुग्णता के लिए जितनी सभावना है उतनी शायद पहले नही थी। आज का युग उसके लिए जितना उर्वर है इतना पहले का नही था। इस मानसिक व्यथा या पीड़ा के लिए हम गहरे मे उतरकर ध्यान दे और सोचे कि यह क्यो होती है ? मनोविकार क्यो होता है ? हम कारण की खोज करे। कारण की खोज मे निकले तो उसका पता लगना मुश्किल नही है। जिन मनुष्यो ने कारण को खोजा है उन्हे वह उपलब्ध हुआ है। कार्य के साथ कारण का सबध है। कार्य दृष्ट होता है और कारण अदृष्ट। कार्य सामने होता है और कारण छिपा रहता है। मनुष्य ने किसी भी छिपी हुई वस्तु को अज्ञात नही रहने दिया, उसे ज्ञात कर लिया। हम उसे ज्ञात कर सकते है। मनोविकार का हेतु खोजा गया और खोजने पर पता चला कि उसका हेतु है मन की मलिनता। प्रतिदिन मन पर मैल जमता है और उस पर रजे चिपट जाती है। मैल पसीना है, रजे चिपटी है तब वह गाढ़ा बन जाता है। वह हमारे शरीर के छिद्रो को रोक लेता है, रोम-कूपो को बद

कर देता है। जिनसे प्राणवायु शरीर के भीतर जाती है उन्हें ढंक देता है। हमारे मन पर भी मैल जमता है। मन के भी पसीना आता है। वह मैल बनता है, रजे चिपटती हैं और वह गाढ़ा बन जाता है। मन के छिद्र रुक जाते है। जिनके द्वारा हम स्वस्थ विचारो को ले सकते हैं वे सब रोम-कूप बद हो जाते है। फिर भीतर से सड़ाध होती है और बुरे विचार आते रहते है, बुरी कल्पनाए उभरती रहती हैं।

मलिनता का हेतु मूढ़ता

मानसिक विकारो का मूल हेतु है—मन की मलिनता। फिर प्रश्न होगा कि यह मलिनता कहा से आती है ? यह पसीना कहा से आता है। पसीने का भी हेतु होता है। हमारी त्वचा के नीचे स्वेद की ग्रथिया होती है। उन स्वेद-ग्रथियो के कारण शरीर मे पसीना आता है। मन के नीचे भी कोई स्वेद-ग्रथि होनी चाहिए जिससे मन पसीजे, पसीना आए, मैल जमे और रजे चिपट जाए। वहा भी स्वेद-ग्रथिया है। वे है—राग और द्वेष। उन ग्रथियो से कुछ-न-कुछ चूता रहता है और मन पर मैल जमता रहता है। राग और द्वेष की ग्रथियो मे मूर्च्छा की तरगे निकलती है, मूर्च्छा की धार निकलती है, मूर्च्छा का पसीना चूता है, वह मन पर जमता जाता है। मन मलिन होता रहता है। यदि प्राणवायु ठीक मिलता है तो हमारा शरीर बिल्कुल ठीक रहेगा, फेफड़ा पूरा काम करेगा, रक्त शुद्ध रहेगा। यदि प्राणवायु मिलना बद हो जाता है तो फेफड़ा पूरा काम नही करता, विकृत रक्त शरीर मे चक्कर काटने लग जाता है। ठीक ऐसे ही मन को यदि पवित्र वातावरण मिलता है तब वह ठीक काम करता है। किंतु जब वह नही मिलता तब मन मे बुरे विचार घूमने लगते है और मन विकृतियो से भर जाता है। बुरी कल्पनाए मनुष्य पर हावी हो जाती है। मूर्च्छा की तरगे सघन होते-होते उस पर जम जाती है और घनीभूत मूर्च्छा चित्त की एक अवस्था का निर्माण करती है। उस अवस्था का नाम है—मूढ़ता। मन की यह पहली अवस्था है। मन की ऊर्मिया घनीभूत हो जाती है। विज्ञान की भाषा मे ऊर्जा यानी एनर्जी घनत्व मे बदल जाती है, मास (Mass) मे बदल जाती है। आज के वैज्ञानिक सापेक्षवाद ने ऊर्जा और द्रव, मास और एनर्जी—इन दोनो के बीच कोई स्पष्ट भेदरेखा नही खीची है

कि दोनो अलग-अलग है। उसका सिद्धात है कि ऊर्जा घनत्व मे, द्रव मे बदल सकता है और द्रव ऊर्जा मे बदल सकता है। इसी प्रकार मूर्च्छा की सघन ऊर्मिया मूढ़ता मे बदल जाती है और मूढ़ता फिर उन मूर्च्छा की उर्मिया मे बदल जाती है। यह चक्र चलता रहता है। जब मूढ़ता की अवस्था निर्मित हो जाती है, उस समय की स्थिति का हम थोड़ा-सा पर्यवेक्षण करे कि उस मूढ़ता की स्थिति मे मनुष्य की क्या दशा बनती है।

मूढ़ता से उपाधि

मूढ़ता की दशा मे सबसे पहले चितन की धारा बदल जाती है। उस अवस्था मे चितन की धारा का पहला सूत्र होता है कि 'मै शरीर हू'। मूढ़ व्यक्ति शरीर और अपने अस्तित्व को भिन्न नही मानता है। वह व्यक्ति शरीर और आत्मा को, शरीर और चैतन्य को एक मानता है। जब वह चैतन्य और शरीर को एक मानता है, उस स्थिति मे अहभाव का विकास होता है। अहकार का अर्थ है--मै अमुक हू, मै सुखी हू, मै दु खी हू, मै बडा हू, मै छोटा हू, मै समृद्ध हू, मै गरीब हू, मै विद्वान हू, मै मूर्ख हू–इस प्रकार का मनोभाव बनना। जितनी उपाधिया दुनिया मे हो सकती है, वे सारी उपाधिया मनुष्य अपने पीछे लगाए घूम रहा है। 'कम्मुणा उवाही जायई'–कर्म से उपाधि होती है। सारी उपाधिया कर्म-जनित होती है।

एक ओर है आधि, दूसरी ओर है व्याधि और बीच मे स्थित है उपाधि। मनुष्य आधि और व्याधि के बीच मे जी रहा है, इसलिए उसके पीछे उपाधि लगती है। जब कोई आधि नही होती, जब कोई व्याधि नही होती तब कोई उपाधि भी नही हो सकती। आधि और व्याधि की देन है उपाधि। आदमी उपाधियो का भार ढोता है और अपने को वह मानता है जो कि वह नही है। वह जो है, उसका अनुभव नही करता। वह जो नही है, उसका अनुभव करता है। आत्मा न सुखी है, न दु खी है, न समृद्ध है, न गरीब है, न छोटा है, न बड़ा है। आत्मा यह सब-कुछ भी नही है। फिर भी मनुष्य अपने आपको सब-कुछ मानता चला जाता है।

ममकार

शरीर और आत्मा को एक मानने के कारण एक दूसरा दोष उत्पन्न

होता है। वह है—ममकार अर्थात् मेरापन। मेरा शरीर, मेरा परिवार, मेरी पत्नी, मेरा पुत्र, मेरा पिता, मेरा धन, मेरा मकान, मेरा पदार्थ। वह सारे पदार्थ-जगत् को 'मेरे' मे समेट लेता है, उसे भिन्न नही रखता। किसी को वह 'मेरेपन' से भिन्न नही मानता। इस 'मेरे' की परिधि मे सब कुछ समा जाता है। इतनी बड़ी परिधि है। केन्द्र बहुत छोटा है।

सामान्यत वृत्त का जो व्यास होता है उससे तिगुनी होती है परिधि। किन्तु ममकार की परिधि तिगुनी तो क्या, तीन करोड़ गुना अधिक है। सभवत यहा गणित भी गलत हो जाता है। कहा जाता है कि गाणितिक सत्य कभी गलत वही होता। वह सदा सत्य होता है। उसमे कभी अतर नही आता। किन्तु इस ममकार की परिधि मे गणित का सत्य भी असत्य हो जाएगा। गणितज्ञ भी यह गणित नही कर पाते। ममकार जो केन्द्र मे बैठा है उसकी परिधि इतनी बड़ी है कि कोई उसकी कल्पना भी नही कर सकता। सब-कुछ उसमे समा जाता है।

जब ममकार और अहकार—ये दो बीमारिया उत्पन्न हो जाती है, तब इन का विस्तार होता जाता है। इन बीमारियो के कारण विकृति की एक बड़ी धारा निकल पडती है। उसमे से छोटी-छोटी असख्य धाराए निकलती है उनकी गणना असभव हो जाती है।

अहभाव, हीनभाव—दोनो बीमारिया

मानसिक विकृतियो की कुछ धाराओ मे एक है बड़प्पन की भावना का प्रदर्शन। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको बड़ा दिखाना चाहता है। उसमे उसे बड़ा सतोष मिलता है। वह सोचता है—'मै बड़ा हू और सब छोटे है। मुझे लोग बडा माने और दूसरो को छोटा माने। मुझे लोग बड़ा अनुभव करे और दूसरो को छोटा अनुभव करे।' यह बड़प्पन के प्रदर्शन की भावना, अपने आप को बड़ा दिखाने की भावना, मानसिक विकृति है। सचाई कुछ भी नही है, केवल विकृति है। जिसका मन पागल होता है उसमे यह विकृति पैदा होती है। दुनिया मे ऐसे व्यक्ति विरल है जिनमे यह पागलपन न हो। अधिकाश लोग पागल होते है। उन्हे सोलह आना पागल घोषित तो इसलिए नही किया जा सकता कि वे थोड़ा-बहुत समझदारी का काम भी करते है। फिर भी वे पागल हैं, इसमे कोई सदेह नही है।

कुछ आदमी बड़प्पन की भावना की बीमारी से ग्रस्त है। वे अपने आपको बड़ा मानते है। यह एक मानसिक विकृति है। कुछ आदमी छुटपन की बीमारी से ग्रस्त होते है। वे मानते है–'मै तो बहुत छोटा हू। मै दुर्बल हू। मै कमजोर हू। मै यह नही कर सकता। मै वह नही कर सकता।' वे हर स्थान मे अपनी दुर्बलता, अपनी हीनभावना का अनुभव करते है। यह भी एक मानसिक विकृति है, मानसिक बीमारी है। इस प्रकार कही बड़प्पन की बीमारी है तो कही छुटपन की बीमारी है कही अहभावना की बीमारी है तो कही हीनभावना की बीमारी है। मनुष्य जब बड़प्पन की भावना से ग्रस्त होता है तब भी वह स्वस्थ नही है और जब वह हीनभावना से ग्रस्त होता है तब भी वह स्वस्थ नही है।

प्रतिशोध मन का विकार

तीसरी विकृति है–प्रतिशोध की भावना। कूछ लोग इस भावना से पीड़ित है। किसी के द्वारा जाने-अनजाने अप्रिय व्यवहार हो जाने पर व्यक्ति मे बदले की भावता जागृत हो जाती है। वह सोचता है–'मै इसका बदला लेकर ही रहूगा। जब तक बदला नही लूगा तब तक चोटी नही बाधूगा। यह खुली ही रहेगी।' महामत्री चाणक्य ने यही सकल्प किया था कि जब तक नद साम्रज्य से बदला नही ले लूगा तब तक मेरी चोटी खुली ही रहेगी, बधेगी नही। उसने बदला लेकर ही चोटी बाधी।

प्रतिशोध की भावना इतनी तीव्र होती है कि जब तक बदला नही लिया जाता तब तक व्यक्ति को शाति नही मिलती। किसी व्यक्ति ने कही थोड़ा-सा तिरस्कार कर दिया और वह अपने अवज्ञा के भाव को स्वीकार न कर ले तब तक शाति नही मिलती और यदि वह स्वीकार मात्र कर लेता है, तो इसमे दूसरे व्यक्ति को कुछ भी प्राप्त नही होता, फिर भी उसे लगता है कि आज परम विजय पा ली है और मै विजेता बन गया हू। यह प्रतिशोध की भावना मन मी एक विकृति है, बीमारी है।

आक्रमक भावना एक पागलपन

मन की एक विकृति है–आक्रमण की भावना। मनुष्य मे आक्रमण की

भावना होती है, दूसरे के स्वत्व को हड़पने की भावना होती है। वह उसे छीनकर अपने अधिकार मे लेना चाहता है। आक्रमण की यह भावना पागलपन है। जब-जब मनुष्य मे पागलपन बढ़ा है तब-तब आक्रमण भावना भी बढ़ी है और जब-जब आक्रमण भावना बढ़ी है तब-तब पागलपन भी बढ़ा है। कुछ ऐसे सम्राट या शासक हुए है जिन्होने विश्व-विजेता बनने का स्वप्न लिया था। उन्होंने विश्व विजय के लिए प्रयत्न किए। वे उसके लिए चले। उन्हे मिला कुछ भी नही और जो कुछ मिला वह भी उनके पास नही टिका। उनके केवल मानसिक स्वप्न की तृप्तिमात्र हुई। उन्होंने मान लिया कि वे विश्व-विजेता हो गए। एक व्यक्ति का पागलपन लाखो-करोड़ो व्यक्तियो की हत्या का हेतु बन जाता है। एक व्यक्ति का पागलपन विश्व के समस्त व्यक्तियो के सुखो को छीनने का हेतु बन जाता है। जब-जब महायुद्ध हुए है, विश्व दु खी और अशात बना है। वह आर्थिक दृष्टि से दरिद्र बना। उसका अपार वैभव नष्ट हुआ। लाखो आदमी मरे। लाखो पत्निया रोती-बिलखती रह गई। लाखो बच्चे अनाथ हो गए। विश्व को कितनी कठिनाइया झेलनी पड़ी। यदि हम इसके कारण की खोज करे तो हमे मिलेगा कि केवल दो-चार व्यक्तियो का पागलपन इस विनाश-लीला के लिए जिम्मेवार है। आदमी के पागलपन के सिवाय इसका दूसरा कोई कारण हो नही सकता। कोई बड़ा कारण नही खोजा जा सकता। यह सच है कि बड़े कारण को लेकर कोई बड़ा युद्ध होता ही नही। क्योकि बड़ी समस्या इतनी साफ होती है कि उसे लेकर कभी लड़ाई नही हो सकती। हमेशा छोटी बात के लिए लड़ाई होती है और वह छोटी बात मूल कारण नही होती। उस लड़ाई के पीछे कारण होता है—मनुष्य का पागलपन। यह है अपने राष्ट्र को सबसे बड़ा बनाना या मानना। यह है अपने आपको विश्व-विजेता के रूप मे प्रस्तुत करना। इसी पागलपन ने रक्तरजित इतिहास का निर्माण किया है।

इस प्रकार की जितनी मानसिक विकृतिया होती है, वे सब मूढ़ता की छोटी-छोटी धाराए है।

ईर्ष्या आग है

ईर्ष्या भी मानसिक विकृति है, एक बीमारी है। दूसरे की प्रगति देखी और मन मे एक सिकुड़न पैदा हो गयी। यह कोई अर्थवान् नही है, कोई

सार्थकता नही है। किन्तु मन का एक पागलपन है। जब यह होता है तब दूसरे की प्रगति पर दिल जलता है, कुढ़ता है और जल-भुनकर राख हो जाता है।

विकृति से विकृति

इस सारी मानसिक विकृतियो का प्रभाव क्या होता है ? यह एक प्रश्न है। ये मानसिक विकृतिया तनाव पैदा करती है। पागलपन से पहले तनाव होता है। मस्तिष्क मे जब तक तनाव नही होता तब तक पागलपन नही आता। तनाव का बिंदु ही पागलपन है। हमारा मस्तिष्क शात होना चाहिए। जब उसमे तनाव पैदा होता है, उसके तन्तु जब बहुत कस जाते है, तब सब-कुछ विकृत ही होता है, विकृति ही विकृति पैदा होती है।

शरीर के महत्त्वपूर्ण अवयव

हमारे शरीर मे दो-चार अवयव बहुत ही महत्वपूर्ण है—हृदय, गुर्दा, यकृत और मस्तिष्क। यदि गुर्दे स्वस्थ न हो तो मूत्र आदि विजातीय तत्त्वो का छनना नही होता। इस अवस्था मे रक्त के साथ दूषित पदार्थ चले जाते है। उससे बड़ी-बड़ी विकृतिया पैदा होती है। यदि यकृत ठीक न हो तो रक्त का उचित निर्माण नही होता, रक्ताल्पता की बीमारी हो जाती है, मनुष्य अस्वस्थ बन जाता है। यदि हृदय ठीक काम न करे तो रक्त का सचार ठीक नही होता, रक्त का पपिग ठीक नही होता, रक्त की शुद्धि भी नही होती, शरीर अस्वस्थ बना रहता है। मनुष्य का जीना-मरना हृदय पर निर्भर है। कितु गुर्दा, यकृत और हृदय से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अग है मस्तिष्क। मस्तिष्क जब स्वस्थ होता है तब वह दूसरे सारे अगो को ठीक कर लेता है। वह सारे शरीर का सचालक है। जितने ज्ञानवाही और क्रियावाही स्नायु है, उन सबका सचालन मस्तिष्क से होता है। शरीर का पूरा सचालन मस्तिष्क से होता है। यह ऐसा नियत्रण-कक्ष है जो सबका सचालन करता है। इसमे जब थोड़ी-सी विकृति होती है तब शरीर का सारा ढाचा गड़बड़ा जाता है। जब तक मस्तिष्क की चेतना ठीक है, आदमी जीता है। हम इस भ्राति को भी दूर करे कि हृदय बद हो जाने से आदमी मर जाता है। ऐसा नही है। हृदय बन्द हो जाने पर

भी आदमी नही मरता। यदि मस्तिष्क के कोष्ठो मे चेतना अवशिष्ट है तो फिर चाहे हृदय बद हो जाए, आदमी नही मरता। बहुत बार ऐसा होता है कि शव को चिता पर लेटा दिया। आग लगाने की तैयारी हो रही है। इतने मे ही वह मृत-घोषित व्यक्ति जी उठता है और वहा से चलकर लोगो के साथ घर आ जाता है। वह वर्षो तक जीता है। बहुत आश्चर्य सा लगता है कि यह क्यो और कैसे होता है ? हृदय की धड़कन बद हो गयी, नाड़ी का स्पदन रुक गया और प्राणी मृत घोषित हो गया, किंतु मस्तिष्क से चेतना पूरी नही निकली, कुछेक कोष्ठो मे वह रह गयी, वह जागृत हुई और पूरे शरीर को फिर से सक्रिय बना डाला। शरीर का सारा तत्र फिर मे चालू हो गया। हमारे शरीर का सबसे बड़ा मूल्यवान अग है मस्तिष्क। जब विकृत मन के द्वारा मस्तिष्क मे तनाव पैदा होता है तब पूरा-का-पूरा शरीर-तत्र विकारग्रस्त हो जाता है।

शिथिलीकरण एक प्रतिकार

इस मस्तिष्क की विकृति से बचने के लिए शिथिलीकरण अत्यन्त आवश्यक है। शरीर का शिथिलीकरण होता है वैसे ही मन की अवस्था का शिथिलीकरण भी होता है। शिथिलीकरण यानी विसर्जन। मूढ़ता का शिथिलीकरण यानी मूढ़ता का विसर्जन। इसका तात्पर्य है कि ऐसी कोई भी विकृति न हो, ऐसी कोई मूर्च्छा की तरग न आए, जो मस्तिष्क को विकृत बना दे। ध्यान और दीर्घश्वास का प्रयोजन भी तो यही है कि शरीर के दोष निकल जाए। इससे व्याधिया निकलती है, जमे हुए मल निकलते है। जब हम मन को श्वास-दर्शन मे लगाते है उस समय हम राग-द्वेष मे मुक्त क्षणो मे जीते है। उस समय मूर्च्छा के दोष, मन के दोष बाहर निकलते है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

मूढ़ अवस्था के लक्षण और पहचान

मूढ़ अवस्था के लक्षण क्या है। उन्हे कैसे पहचाना जा सकता है ?

मूढ़ अवस्था का पहला लक्षण है–विपर्यय। जो मूढ़ होता है वह विपर्यास को प्राप्त होता है। विपर्यास अर्थात विपरीत बुद्धि। उस समय दृष्टि मिथ्या हो जाती है और जो कुछ हाथ लगता है वह विपरीत ही होता है। सत्य

हाथ नही आता। दु ख को सुख और सुख को दुःख मान लिया जाता है। हम अपने उत्तरदायित्व को दूसरो पर डाल देते है और दूसरो के उत्तरदायित्व को अपने पर ओढ़ लेते है। सब-कुछ विपरीत ही विपरीत। यह है मूढ़ता का पहला लक्षण।

मूढ़ता का दूसरा लक्षण है—अनुबध। अनंत अनुबध अर्थात् नए-नए दु खो का निर्माण। 'कडेण मूढ़ो पुणो-पुणो त करेइ'—मूढ़ व्यक्ति कभी कोई आचरण कर लेता है। वह उसमे इतना मूढ़ हो जाता है, मोहकता उस पर इतनी छा जाती है कि फिर वह उसे बार-बार दोहराता ही रहता है। जैसे कभी कुछ मिल गया और उसका भोग कर लिया। वस्तु चली गयी, कितु सस्कार छोड़ गयी ? आज भोजन मे अमुक वस्तु खाई। कल भोजन करने बैठा और उस वस्तु की स्मृति हो आई। मन दु खी हो गया। जो वस्तु है वह सुख नही दे रही है कितु जो नही है वह दु ख दे रही है। यह है स्मृति का अनुबध, स्मृति का दु ख। स्मृति सताती है, दु ख देती है, पीड़ित करती है।

मूढ़ मनुष्य को कल्पना भी सताती है। मूढ़ मनुष्य को स्मृति भी सताती है। मूढ़ आदमी मे कितने काल्पनिक भय होते है। उसमे कितने काल्पनिक दु ख होते है। वह असख्य कल्पनाए करता चला जाता है और उनके अनुपात मे दु खी होता चला जाता है। भविष्य की जितनी आशका मूढ़ मनुष्य मे होती है, उतनी आशका जागृत व्यक्ति मे नही होती। मूढ़ व्यक्ति हमेशा ही इस उधेड़बुन मे रहता है कि कल क्या होगा ? परसो क्या होगा ? आगे क्या होगा ? सदेह कभी मिटता ही नही। स्मृतिया भी सताती रहती है। सुख दु ख का हेतु बन जाता है। कभी सुख होता है, वह अपने पीछे इतना दु ख छोड़ जाता है कि नए-नए दु ख उससे उत्पन्न होते रहते है। कोई प्रिय बना। उसने मान लिया कि मुझे प्रिय मिल गया। प्रिय बिछुड़ गया। अब अपार दु ख हो गया। सुख तो शायद थोड़े समय के लिए रहा होगा, कितु दु ख इतना लबा हो गया कि बार-बार दु ख की ही स्मृति होती चली गई। यह है राग और द्वेष का अतहीन अनुबध। अनत श्रखला बन जाती है। एक के बाद एक दु ख पैदा होता रहता है और उसका अत नही होता। मूढ़ अवस्था का दूसरा लक्षण है—अनत अनुबध।

मूढ़ अवस्था का तीसरा लक्षण है—अतीन्द्रिय सत्यों के प्रति अनास्था। जो मनुष्य मूढ़ होता है, उसकी अतीन्द्रिय सत्यो के प्रति कोई रुचि नही होती। वह मानता ही नही कि कुछ अतीन्द्रिय होता है। उसका चितन यही कहता है कि जो सामने है वह सत्य है, जो उपलब्ध है वही सार्थक है, जो प्राप्त है वही सब-कुछ है। इससे आगे कुछ भी नही है। उसका सारा प्रयत्न केवल उपलब्ध के आस-पास ही चक्कर लगाता रहता है। कोल्हू का बैल जैसे कोल्हू के आस-पास घूमता है, वैसे ही मूढ़ व्यक्ति उपलब्ध के आस-पास घूमता है। वह इससे हटकर कुछ देखने का प्रयत्न ही नही करता। अतीन्द्रिय सत्य है। मूढ़ इस ओर एक पैर भी नही रखता। उसमे यह जिज्ञासा ही पैदा नही होती है कि जो दृष्ट है उससे परे भी कुछ होना चाहिए। यह मूढ़ता का तीसरा लक्षण है।

मूढ़ता अपवित्र आभामडल

मूढ़ मनुष्य अशुभ लेश्याओ का जीवन जीता है। उसकी लेश्याए अशुभ होती है। लेश्या अर्थात् आभामडल। उसका आभामडल पवित्र नही होता, वह विकृत हो जाता है। हर प्राणी के आस-पास दो, चार, पाच या सात फुट का आभामडल होता है। लेश्या अच्छी भी होती है और बुरी भी होती है। आभा-मडल निर्मल भी होता है और मलिन भी होता है, पवित्र भी होता है और विकृत भी होता है। मूढ़ता के कारण जो आभामडल बना है वह इतना विकृत बनता है कि बुरे विचार के लिए पूरी भूमि उपलब्ध हो जाती है, कोई कमी नही रहती। उस समय कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या—ये लेश्याए ही अधिक-से-अधिक कार्यरत रहती है। तेजोलेश्या आदि शुभ लेश्याए बहुत ही क्षीण रहती है। अधिकाशत मलिन लेश्याओ का ही आभामडल आस-पास मे बना रहता है। उससे विकृत विचार ही उत्पन्न होते रहते हैं। जब तक तेजोलेश्या नही होती, तब तक मनुष्य बाह्य निमित्तो से होने वाले स्पदनो और सवेदनो को ही सुख मानता रहता है। शरीर के भीतर सुखद स्पदन, सुखद सवेदन है, उन तक उसकी गति ही नही होती। वह तो सोचता है कि खाऊँगा तो सुख मिलेगा। अच्छे कपड़े पहनूगा तो सुख मिलेगा। भोग करूँगा तो सुख मिलेगा। जितने-जितने सुख के साधन मान

लिए गए है या जो सुख के निमित्त स्थापित है उन स्थापित सुख के निमित्तो मे ही सुख की खोज करता है। उनसे परे, उन निमित्तो के बिना ही अपने भीतर कोई सुख है या सुखद सवेदन उत्पन्न हो सकते है, इस बात की कल्पना और सभावना भी करना उसके लिए कठिन है। यह उस अपवित्र आभामडल का ही परिणाम है।

मूढ़ व्यक्ति का ध्यान आर्त्त और रौद्र

यह हम न माने कि मूढ़ व्यक्ति मे एकाग्रता नही होती। एकाग्रता उसमे भी होती है। उसमे ध्यान भी होता है। किंतु उसका सारा ध्यान, सारी एकाग्रता भिन्न दिशागामी होती है। वह इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए इतना एकाग्र हो जाता है कि मन की सारी शक्ति केन्द्रित हो जाती है, वस्तु को प्राप्त करने के लिए। सयोगवश वस्तु मिल गई तो फिर एकाग्रता की दिशा बदल जाती है। अब उसका ध्यान, उसकी एकाग्रता इस ओर लगेगी कि प्राप्त वस्तु छूट न जाए। इस प्रकार उसमे पदार्थ के नित्यत्व की भावना जागृत हो जाती है। वह मानेगा कि जो सयोग है वह निश्चित रूप से चलता रहे। सचाई यह है कि जो मिला है वह निश्चित ही चला जायेगा। किंतु उस व्यक्ति की मूढ़ता कभी इस सच्चाई को स्वीकार नही करने देगी कि जो सयोग है उसका वियोग भी होगा। वह मूढ़ व्यक्ति यही स्वीकार कर चलता है कि सयोग स्थायी है, कभी वियोग नही होगा। वह सयोग के स्थायित्व के लिए ही प्रयत्न करेगा। उसकी समूची एकाग्रता इष्ट वस्तु की प्राप्ति और इष्ट वस्तु का वियोग न हो, इसी मे लगी रहेगी। उसकी ध्यान-धारा इसी ओर प्रवाहित होगी।

उसमे ध्यान की दूसरी धारा भी बनती है। जो वस्तु इष्ट नही है, वह मिल न जाए, इस ओर उसका चिन्तन चलेगा। यदि सयोगवश वह अनिष्ट वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उससे बिछुड़ने के लिए उसका सारा चितन चलता रहता है। उस समय सारी स्मृतियो का मुह एक ही दिशा मे लग जाता है। क्या यह ध्यान नही है? यह पूरी एकाग्रता है। इतनी एकाग्रता शायद अध्यात्म के साधक को भी करने मे कठिनाई होती है। मूढ़ व्यक्ति मे यह एकाग्रता सहजतया होती है। श्वास पर जितनी एकाग्रता हमारी नही सधती, शरीर-प्रेक्षा मे जितनी एकाग्रता नही सधती, उतनी एकाग्रता प्रिय की प्राप्ति और अप्रिय की अप्राप्ति करने मे सध जाती है।

एकाग्रता की और-और भी दिशाए है। बीमारी जब होती है तब उसे मिटाने के लिए व्यक्ति आकुल-व्याकुल हो उठता है, बेचैन हो जाता है। इस चितन मे न जाने वह क्या-क्या कर लेता है। वह अकरणीय कार्य भी कर लेता है। बीमारी को मिटाने के लिए, वेदना को दूर करने के लिए वह सब-कुछ करने के लिए तत्पर रहता है।

एकाग्रता काम्य, अकाम्य

एकाग्रता की एक दिशा है—आसक्ति की तीव्रता। कोई भी मनोज्ञ वस्तु सामने आती है और मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिए सकल्प करता है। वह उस वस्तु को पाने के लिए अपनी सपूर्ण सकल्प-शक्ति का प्रयोग करता है, उसे उसी मे खपा देता है। तपस्या या अन्य माध्यम से अर्जित शक्ति को पदार्थ प्राप्ति मे खपा देना निदान कहलाता है। आज होने वाले युद्ध इस निदान के उदाहरण है। व्यक्ति सकल्प करता है कि मै विश्व का सर्वश्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हो सकू, इसकी प्राप्ति के लिए वह अर्जित को खपा देता है।

इन सारी दिशाओ मे मनुष्य की एकाग्रता होती है, ध्यान होता है। आप इस भ्राति को निकाल दे कि एकाग्रता का कोई मूल्य नही है। उसका अपना मूल्य है। एकाग्रता किस दिशा मे प्रवाहित है, किस दिशा मे स्थिर है, इसी आधार पर उसकी मूल्यवत्ता आकी जाती है। यदि एकाग्रता पदार्थगामी है तो वह काम्य नही है, इष्ट नही है, प्रयोजनीय नही है। एकाग्रता वही काम्य, इष्ट और प्रयोजनीय है, जो हमारे चैतन्य जागरण मे निमित्त बनती है। चैतन्य के जागरण के लिए होने वाली एकाग्रता अध्यात्म के साधक के लिए बहुत मूलवान है। पदार्थोन्मुख एकाग्रता का अध्यात्म की दृष्टि से कोई मूल्य नही है। इससे मानसिक बीमारिया पैदा होती है, मानसिक विकृतिया पैदा होती है। वर्तमान युग की मानसिक विकृतियो का, मानसिक बीमारियो का, मानसिक पागलपन का, मानसिक असन्तुलन का निदान केवल मूर्च्छा की तरगो मे ही खोजा जा सकता है। हमारा प्रयत्न यह हो कि मूर्च्छा टूटे और जागृति बढ़े।

अन्तर्दृष्टि (१)

अन्तर्दृष्टि का सर्जन मूढता का विसर्जन

हम दो प्रकार के प्रकाशो से परिचित है–प्राकृतिक और कृत्रिम। सूर्य का प्रकाश प्राकृतिक है और बिजली तथा आग का प्रकाश कृत्रिम है। प्राकृतिक प्रकाश से भी देख पाते है और कृत्रिम प्रकाश से भी हम देख पाते है। प्रकाश प्रकाश है, फिर चाहे वह प्राकृतिक हो या कृत्रिम। जब प्रकाश होता है तब देखने की क्षमता का उपयोग हो जाता है। आख होने पर भी यदि प्रकाश न हो तो हम देख नही पाते। देखने के लिए आख की क्षमता भी आवश्यक है और प्रकाश भी आवश्यक है। मनुष्य के जीवन मे कभी-कभी ऐसा घटित होता है कि उसे एक नया प्रकाश मिलता है। वह प्रकाश मिलता है जो आज तक नही मिला था। अनुपलब्ध उपलब्ध होता है, अघटित घटित होता है। ऐसा प्रकृति या निसर्ग से भी होता है और ज्ञान पर किसी दूसरे ज्ञान की चोट पर पड़ने पर भी होता है।

जो एक अतर्दृष्टि जागृत होती है, वह कभी-कभी निसर्ग से, प्रकृति से जागृत हो जाती है। ऐसे गूढ़ निमित्त पीछे रहते है, उनका हमे पता नही चलता और वह अतर्दृष्टि तत्काल प्रकट हो जाती है। कभी-कभी ज्ञानी के ज्ञान की चोट खाकर हमारे अतर की आख खुलती है। कोई ऐसी तीव्र चोट होती है और अतर्दृष्टि जाग जाती है।

अंतर्दृष्टि अध्यात्म की पहली भूमिका है। अंतर्दृष्टि का जागरण अध्यात्म-विकास की पहली अवस्था है। जैसे ही अंतर्दृष्टि जागती है मूढ़ता समाप्त हो जाती है। इससे पूर्व मूढ़ता का एकछत्र साम्राज्य रहता है। अंधकार ही अंधकार! सर्वत्र सघन अंधकार! बहिर्दर्शन ही बहिर्दर्शन! पौद्गलिकता ही पौद्गलिकता! मूर्च्छा की तरंगें ही तरंगें! मूर्च्छा की उन तरंगों के सामने कोई प्रतिरोधक शक्ति नहीं होती। उस मूढ़ अवस्था के सामने कोई रुकावट नहीं होती, कोई अवरोध नही होता। जैसे ही अतर्दृष्टि खुलती है, मूर्च्छा के समक्ष प्रतिरोध की शक्ति खड़ी हो जाती है और मूढ़ता का एकछत्र साम्राज्य टूट जाता है।

अन्तर्दृष्टि का अर्थ

अन्तर्दृष्टि का अर्थ है—अतर् का दर्शन। शरीर के बाहर का दर्शन या शरीर के भीतर का दर्शन अतदर्शन नही है। चाहे हम शरीर के बाहर देखे, चाहे शरीर के भीतर देखे, यह अतर्दर्शन नही है। अतर्दर्शन कुछ और होता है। वह यह है कि पौद्गलिकता से परे कुछ है, इसका भान हो जाना। जब अतर्दृष्टि का जागरण होता है तब मनुष्य को यह भान होता है कि मै शरीर नही हू। शरीर मूर्त है, मैं अमूर्त हू। अचेतन पुद्गल और मूर्त के प्रतिपक्ष मे एक नए तथ्य का उदय होता है, नए रहस्य का उद्घाटन होता है। चेतन, अ-पुद्गल और अमूर्त का भान होता है।

सब कुछ पौद्गलिक

दर्शन और तर्क के क्षेत्र मे चेतन और अचेतन के विषय मे अनगिन विचारणाए स्फुरित हुई है। उनका लेखा-जोखा करना भी सभव नही है। इनकी स्थापना के लिए तर्क का बहुत बड़ा जाल बिछा हुआ है। कुछ दार्शनिको ने चेतन की सत्ता की स्थापना की तो कुछ दार्शनिको ने उसका निरसन किया, खडन किया। चेतन की सत्ता की स्थापना एक बहुत जटिल समस्या है, क्योकि हमारे जीवन का सारा परिसर, सारा परिवेश और सारा वातावरण पुद्गल का है। हम जिन आखो से देखते है वे आखे पौद्गलिक है। हम जिस मन से सोचते हैं वह मन पौद्गलिक है। हम जिस भाषा मे बोलते हैं, वह भाषा

पौद्गलिक है। हम जिस शरीर से सारे क्रिया-कलापो का सचालन करते है वह शरीर पौद्गलिक है। हम जिस स्मृति से याद करते हैं वह स्मृति पौद्गलिक है। इस प्रकार स्मृति पौद्गलिक, मनन-चितन पौद्गलिक, मन पौद्गलिक, इद्रिया पौद्गलिक, फिर हमारे पास ऐसा कौन-सा साधन रहा जो अपौद्गलिक सत्ता की स्थापना कर सके ?

कम्प्यूटर ने इतने चमत्कारी कार्य कर दिखाये कि मनुष्य का मस्तिष्क भी उन्हे नही कर सकता। हमारे सारे ज्ञान का वाहक है मस्तिष्क। सारे तर्क, सारी विचारणाए इसी के द्वारा स्फुरित होती है। वह मस्तिष्क पौद्गलिक है। कम्प्यूटर सबसे बडा मस्तिष्क है। उसकी तुलना सामान्य ज्ञानी नही कर सकता। उसकी तुलना कोई चतुर्दशपूर्वी ही कर सकता है।

लब्धियो की विचित्र शक्ति

तीन शब्द है—मनोबली, वचनबली और कायबली। जिस साधक को मनोबल लब्धि प्राप्त होती है वह अतर्मुहूर्त मे चौदह पूर्वो का परावर्तन कर सकता है। पूर्व अथाह ज्ञान के भडार है। उनका परावर्तन ४८ मिनिट मे करना विशिष्ट शक्ति का द्योतक है। जिसे वचनबल लब्धि प्राप्त है, वह पूर्व की ज्ञानराशि का उच्चारण अतर्मुहूर्त मे कर सकता है। यह बात बुद्धिगम्य नही होती, किंतु कम्प्यूटर के आविष्कार ने इस बात को बुद्धिगम्य बना डाला, समस्या का हल कर डाला। कम्प्यूटर एक सेकण्ड मे एक लाख छियासी हजार गणित के भागो (विकल्पो) का गणित कर लेता है। विद्युत की जितनी गति है, उसके अनुसार वह कार्य कर लेता है। विद्युत् की गति एक सेकण्ड मे १,८६,००० मील की है। इतनी ही तीव्र गति से कम्प्यूटर गणित के विकल्पो का गणित कर लेता है। विद्युत् की गति से चलने वाला कम्प्यूटर एक सेकड मे इतना बड़ा काम कर सकता है तो चतुर्दशपूर्वी एक अतमुहूर्त मे सारे ज्ञान का पारायण या उच्चारण क्यो नही कर सकता ? कर सकता है। कम्प्यूटर के पास विद्युत् की शक्ति है तो चतुर्दशपूर्वी के पास तैजस शक्ति है। उसका तैजस शरीर इतना विकसित हो जाता है, उसकी दैहिक विद्युत् इतनी तीव्रगामी हो जाती है कि वह यह काम सहजता से कर सकता है। तैजस की विद्युत् इस विद्युत् से अधिक शक्तिशाली होती है। इतना होने पर भी हम

अपौद्गलिकता की सीमा मे नही जा सके। चाहे कम्प्यूटर की त्वरित शक्ति हो चाहे चतुर्दशपूर्वी की त्वरित शक्ति हो, यह है सारी पौद्गलिक सीमा मे। कम्प्यूटर विद्युत् की धारा के सहारे अपना कार्य करता है और चतुर्दशपूर्वी तैजस शरीर की विद्युत्-धारा के सहारे अपना कार्य करता है। विद्युत्-धारा भी पौद्गलिक है और तैजस शरीर भी पौद्गलिक है। वे अ-पौद्गलिक नही हैं।

समाधान नही

समस्या का कोई समाधान नही हुआ। तत्त्व-चितन के आधार, पर तर्क के आधार पर, दर्शन के आधार पर, दार्शनिक प्रतिपादनो के आधार पर, तार्किक निर्णयो, समीक्षाओ और प्रत्ययो के आधार पर आत्मा और अनात्मा, चेतन और अचेतन, पुद्गल और अ-पुद्गल का निर्णय किया जा सकता है--यह आज तक प्रतिभाषित नही हुआ। इनके द्वारा कभी समाधान हो ही नही सकता। तर्क का एक प्रवाह होता है। दुर्बल तर्क वाला परास्त हो जाता है और सबल तर्क उस पर हावी हो जाता है। यह जय और पराजय की बात हो सकती है, किंतु यह निर्णय की बात नही हो सकती। समूचे दर्शन और तर्क के क्षेत्र मे, समूचे न्यायिक क्षेत्र मे इस प्रश्न की मीमासा हुई, किंतु आज तक उसका समाधान नही हो सका। आज हजारो वर्षो की चर्चाओ के बाद भी वैसे-के-वैसे दो खेमे बने हुए है। एक खेमा है आत्मा को मानने वालो का और दूसरा खेमा है आत्मा को नही मानने वालो का। आत्मा को मानने वालो के अपने तर्क है और आत्मा को नकाराने वालो के अपने तर्क है। दोनो अपने-अपने मत का प्रबलतम सर्मथन करते है। कोई किसी के आगे झुका नही है। कोई किसी को झुका नही सका है। दोनो के तर्क अपनी-अपनी रणभूमि की सीमा मे आमने-सामने खड़े है। कोई किसी को परास्त नही कर पा रहा है।

समाधान का हेतु--अध्यात्म

अध्यात्म का विकास जिस व्यक्ति मे होता है वह इस शाश्वत प्रश्न का समाधान पा लेता है। चाहे वह यह समाधान दूसरो को न दे सके, किंतु

अपने आप मे वह पा लेता है। दूसरो को देने मे तो वे ही खतरे फिर आ जाते है। दूसरो को समाहित करने मे भाषा का माध्यम चाहिए, बुद्धि का माध्यम चाहिए, मनन और चितन का माध्यम चाहिए। हम अपने अनुभव को भाषा के माध्यम से प्रकट न कर सके, यह भिन्न प्रश्न है। किंतु स्वय का समाधान इससे अनुबधित नही है। अध्यात्म से स्वय का समाधान हो जाता है, कोई सदेह नही रहता। यह सब होता है साधना के क्षेत्र मे, अध्यात्म के क्षेत्र मे। साधना के द्वारा ऐसा विस्फोट होता है कि मूर्च्छा की दीवारे टूट जाती है और यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि मै वह हू जो ज्ञाता है, द्रष्टा है। आत्मा का एकमात्र लक्षण हो सकता है ज्ञाता और द्रष्टा। आज इतने विकास के बावजूद ऐसा कोई यत्र नही बना जो ज्ञाता और द्रष्टा हो। यत्र मे स्मृति की शक्ति आरोपित की जा सकती है। आप कोई बात भूल गए। कम्प्यूटर आपको याद दिला देगा कि आप कहा भूल कर रहे है। आप गणित मे गलती करते है, कम्प्यूटर आपको सावधान कर देगा। कितु ज्ञाता और द्रष्टा बनने की क्षमता उसमे नही है। कोई भी ऐसा पुद्गल नही है जो ज्ञाता-द्रष्टा है। आत्मा का लक्षण है--जानना, देखना। जो अकर्मा है वह जानता है, देखता है। यह नही कि जो अकर्मा है वह सोचता है, मनन करता है। अकर्मा नही सोचता। आत्मा को सोचने की जरूरत नही होती। सोचने की जरूरत इस मस्तिष्क को होती है। आत्मा को याद करने की जरूरत नही होती। आत्मा को कल्पना करने की जरूरत नही होती। कल्पना, स्मृति और चितन–इन सबसे परे जो है वह है ज्ञाता और द्रष्टा, जो जानता है, जो देखता है। वह न कल्पना करता है, न याद करता है और न सोचता है। वहा कोई माध्यम नही है। स्मृति मे माध्यम की जरूरत होती है। कल्पना और चितन मे माध्यम की जरूरत होती है। ज्ञाता और द्रष्टा को किसी चितन की जरूरत नही होती। वह अपनी ज्ञान शक्ति के बल पर ही जान लेता है। बिना किसी माध्यम के, बिना किसी सहारे के वह चैतन्य के द्वारा सब कुछ जान लेता है, देख लेता है। इस चेतना लक्षण का कोई प्रतिद्वद्वी तर्क आज तक उपलब्ध नही हुआ जिससे यह प्रमाणित कर सके कि यह अचेतन है, फिर भी जानता है, देखता है। आज तक ऐसा प्रमाणित नही हो सका।

तर्क के द्वारा यह प्रमाणित नही हो सकता। अनुभव से ऐसा जाना जा सकता है। जानो और देखो, अनुभव करो। श्वास को जानो। यह भी बहुत बड़ी क्रिया है। जो आते-जाते श्वास को जान रहे है, वे कल्पना नही कर रहे है, स्मृति नही कर रहे है, केवल जान रहे है, देख रहे है, अनुभव कर रहे है। केवल शुद्ध आत्मा का उपयोग कर रहे है, शुद्ध चेतना का उपयोग कर रहे है।

श्वास का मूल्य

जो नही जानते वे यह सोच सकते है कि श्वास जैसी छोटी वस्तु को देखने-जानने से क्या ? इतनी छोटी बात को हर कोई जान लेता है, देख लेता है। इसमे विशेषता है ही क्या ? आप सोचे। आप देखते है तो सिनेमा को देखते है,चलचित्र को देखते है और जानते है तो दूसरो को जानते है। किंतु अपने श्वास को जानने-देखने की बात आपको उपलब्ध नही है। शुद्ध चैतन्य का उपयोग है केवल जानना-देखना। इसमे कोई राग नही, कोई द्वेष नही। श्वास को जानने-देखने का अर्थ है राग-द्वेष से मुक्त क्षण मे जीना, वीतरागता का जीवन जीना।

स्फोट

जिस साधक मे स्फोट होता है वह आत्मा को उपलब्ध हो जाता है और उस भूमिका पर पहुचकर वह कहता है कि 'मै शरीर नही हू।' 'मै पुद्गल नही हू।' 'मै मूर्त नही हू।' यह अध्यात्म-विकास की पहली भूमिका है।

ममकार का आदि-बिन्दु

जब यह अवस्था घटित होती है तब चिंतन की धारा बदल जाती है। चिंतन की जो मूढ़ अवस्था थी, उसमे परिवर्तन आ जाता है। जब साधक कहता है—'मै शरीर नही हू' तब इससे चिंतन का एक स्रोत निकलता है जिसे हम 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' कहते है। आज तक यह मान रखा था जो 'शरीर है वह मै हू' और 'जो मै हू वह शरीर है।' अब अन्यत्व अनुप्रेक्षा का जागरण हुआ तो यह स्पष्ट बोध हो गया कि शरीर अन्य है, मै अन्य हू। यह अन्यत्व अनुप्रेक्षा प्रस्फुटित होती है। जब यह बात स्पष्ट समझ मे आ जाती है कि

मै शरीर से भिन्न हू, तब मूर्च्छा पर इतना तीव्र प्रहार होता है कि मोह का किला ढह जाता है, क्योकि मोह का उद्गम-स्थल है शरीर। आदमी शरीर को ही सब कुछ मानकर कार्य करता है। जब यह मोह टूट जाता है, यह भ्राति टूट जाती है, अनादिकालीन भ्रम की दीवार खड-खड हो जाती है तब यह स्पष्ट बोध होता है कि मै शरीर नही हू। इस बोध के साथ-साथ सारी विचारधाराए बदल जाती है। 'यह शरीर मेरा नही है', 'मै शरीर नही हू'—अहकार की गाढ़ ग्रथि खुल जाती है। 'यह शरीर मेरा नही है'—ममकार की गाढ़ ग्रथि खुल जाती है। उसे रास्ता मिल जाता है। रास्ता उसी को मिलता है जिसकी ममकार की ग्रथि खुल जाती है।

ममत्व की ग्रथि का आदि-बिन्दु है शरीर। जब यह गाठ खुल जाती है तब मार्ग स्पष्ट दीखने लग जाता है। वह जान लेता है कि उसे क्या करना है ? कहा जाना है ? जब अहकार और ममकार—दोनो की गाठे खुल गयी 'मै शरीर नही हू', 'शरीर मेरा नही है'—तब नये चैतन्य का उदय होता है। उस सूर्य का उदय हो गया जो कभी अरुणाचल पर आया नही था, जो कभी पूर्वाचल मे नही आया था। कभी उगा नही था। जब सूर्य का उदय होता है तब जीवन की सारी दिशा बदल जाती है। आप सोच सकते है कि क्या इस भूमिका मे जीने वाला कभी व्यवहार की भूमिका मे जी सकेगा ? मै मानता हू कि वह अच्छी तरह से जी सकेगा। कितु यह सभव कैसे होगा ? जिसने यह मान लिया कि मै शरीर नही हू, शरीर मेरा नही है क्या वह शरीर के प्रति उदासीन नही हो जाएगा ? क्या वह शरीर के प्रति विरक्त नही हो जाएगा ? क्या यह शरीर के प्रति उपेक्षा नही है ? क्या ऐसा व्यक्ति जीवन को चला पाएगा ? जो व्यक्ति शरीर के प्रति उपेक्षा बरतेगा, क्या वह परिवार के प्रति अनुरक्त रह पाएगा ? क्या वह देश के प्रति अनुरक्त रह पाएगा ? वह जीवन दायित्वो और कर्तव्यो को कैसे निभा पाएगा ? ये प्रश्न सहज है कितु इन प्रश्नो मे कोई व्यावहारिक कठिनाई नही है। जिसने यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि शरीर भिन्न है और मै भिन्न हू, उसने शरीर के साथ सबध की एक योजना कर ली। उस सबध को अनेक रूपको मे अभिव्यक्ति दी गई है। महावीर ने कहा—शरीर नौका है और आत्मा नाविक है। उपनिषद्कारो

ने कहा–शरीर रथ है और आत्मा रथिक है। शरीर घोड़ा है और आत्मा घुड़सवार है। क्या समुद्र मे तैरने वाला नाविक कभी अपनी नौका की उपेक्षा कर सकता है ? ऐसा वह कभी नही कर सकता। समुद्र की तेज धारा मे बह जा रहा है, अथाह जल है और पार होने का एकमात्र साधन है नौका। क्या ऐसा मूर्ख व्यक्ति मिलेगा जो समुद्र मे उतरकर भी नौका की उपेक्षा करे ? कभी नही कर पाएगा। वह नौका की पूरी रक्षा करेगा। उसे कुछ भी आच नही आने देगा।

नौका से चिपकना भूल है

एक प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को एक मानता है, अभिन्न मानता है, वह शरीर को बहुत सभालकर रखता है, उसका सरक्षण करता है और जो व्यक्ति शरीर और आत्मा को भिन्न मानता है, अलग-अलग मानता है, वह भी शरीर को सभालकर रखता है। फिर दोनो मे अन्तर क्या है ? दोनो की धारणाओ मे, स्थापनाओ मे क्या फर्क पड़ा ? दोनो मे बहुत बडा अन्तर है। इसको हम समझे। नाविक नौका को सभालकर रखता है कितु उससे चिपककर नही रहता। वह स्पष्ट जानता है कि जब तक तट प्राप्त नही हो जाता, तब तक उसके लिए नौका नौका है, वह ग्रहण करने योग्य है। जब तट प्राप्त हो जाता है तब नौका उसके लिए व्यर्थ है, तब नौका की कोई सार्थकता नही रह जाती। कितु जो शरीर और आत्मा को भिन्न नही मानता, वह तट आने पर भी नौका से चिपटा रहता है। वह यह सोचता है कि नौका ने मुझे पार लगाया है, अब इसे मै क्यो छोड़ू ? जो नौका है वह मै हू और जो मै हू वह नौका है। मै नौका को अपने से अलग नही कर सकता। वह नौका से चिपट जाता है। यह चिपट जाने वाली बात उस मनुष्य मे उत्पन्न होती है जो शरीर और आत्मा को एक मानता है। नौका को साधन मात्र मानने की मति उस मनुष्य मे जन्म लेती है जो नौका को केवल साधन मानता है और प्रयोजन सिद्ध होने पर उसे छोड देता है। यह व्यवहार का लोप नही है।

पदार्थ साधन है, अभिन्न नही

यह सच है कि उन लोगो ने बहुत बड़ी समस्याए पैदा की है जो पदार्थ

से चिपके रहे। सभी युद्धो का कारण भी यही चिपकाव रहा है। शरीर भी एक पदार्थ है जो शरीर से चिपका रहता है, वह सबके साथ चिपका रहता है। जो शरीर के साथ चिपका हुआ नही वह किसी के साथ भी चिपका हुआ नही होता। जिस व्यक्ति का शरीर के साथ चिपकाव नही रहा, जो शरीर को जीवन-यापन का साधन-मात्र मानकर चलता है, उस व्यक्ति ने दुनिया मे कभी कोई अनर्थ पैदा नही किया। उस व्यक्ति ने द्वद्व या सघर्ष कभी उत्पन्न नही किया। क्योकि वह मानकर चलता है कि पदार्थ मात्र साधन है, एक उपयोगिता है, चिपकाव की वस्तु नही है। जीवन-धारा मे कितना बड़ा अतर आता है, आप स्वय अनुभव करे। एक आदमी पदार्थ को साधन मानता है और एक उसको अभिन्न मानता है। अभिन्न मानने मे जो स्फुलिग उछलते है, वे साधन मानने मे नही उछलते। बहुत बार कहा जाता है कि धन को साधन मानो। उसका सग्रह मत करो। किंतु यह हो नही सकता। जब आदमी शरीर को साधन नही मानता तो फिर वह धन को साधन कैसे मानेगा? वह शब्दो मे भले ही दोहरा दे, पर यथार्थ मे वह उसे स्वीकार नही करेगा। स्वीकार तब होता है जब ममत्व छूट जाता है, मार्ग दीख जाता है, कोई सदेह नही रहता है, कोई भय नही रहता। उस स्थिति मे ही यह ज्ञान विकसित हो सकता है, ज्ञाता और द्रष्टा का भाव विकसित हो सकता है। उस स्थिति मे बहुत सारी आधिया और व्याधिया टूटने लगती है तथा उपाधिया भी एक-एक कर खडित होती जाती है। जब आदमी ज्ञाता और द्रष्टा हो गया तो फिर कौन-सी उपाधि बच गई? विश्व मे एक ही निरुपाधिक वस्तु है, वह है—ज्ञाताभाव और द्रष्टाभाव। शेष सब सोपाधिक है, सबके साथ विश्लेषण जुड़े हुए है।

एक प्रश्न पूछा गया—'अत्थि उवाही पासगस्स'—क्या द्रष्टा के कोई उपाधि है? उत्तर मिला—'णत्थि उवाही पासगस्स'—द्रष्टा के कोई उपाधि नही होती है। जो द्रष्टा है उसके क्या उपाधि हो सकती है? कोई उपाधि नही होती। इस प्रकार निरुपाधिक अवस्था का सूत्रपात अध्यात्म विकास की पहली भूमिका मे हो जाता है। अतर्दृष्टि आते ही यह सब कुछ घटित हो जाता है।

अंतर्दृष्टि (२)

विवेक चेतना और कायोत्सर्ग

जब अतर्दृष्टि खुलती है तब 'मै शरीर नही हू, शरीर मेरा नही है'—यह विवेक-चेतना जागृत होती है। इस विवेक-चेतना के जागृत हो जाने पर कायोत्सर्ग की भूमिका दृढ़ होती है, कायोत्सर्ग सधता है। जब तक शरीर का अभिमान नही छूटता, शरीर मेरा है—यह भान नहीं छूटता तब तक कायोत्सर्ग नही सध सकता। कायोत्सर्ग का अर्थ केवल प्रवृत्ति का विसर्जन नही है, केवल शिथिलता नही है। शिथिलता और प्रवृत्ति का विसर्जन भी कायोत्सर्ग का एक अर्थ है, कितु इतना ही अर्थ नही है। कायोत्सर्ग का मूल अर्थ है—शरीर का अभिमान छूट जाना, शरीर का ममत्व छूट जाना। देहाभिमान का न होना कायोत्सर्ग है। जब तक 'शरीर मेरा है'—यह भान बना रहता है तब तक कायोत्सर्ग नही सधता। जब तक शरीर की पकड़ रहती है तब तक कायोत्सर्ग नही हो सकता। शारीरिक शिथिलता से स्वाभाविक तनाव समाप्त हो जाता है कितु मानसिक तनाव समाप्त नही होता। जब तक मानसिक ग्रथि नही खुलती तब तक कायोत्सर्ग नही हो सकता। कायोत्सर्ग के लिए दोनो बाते आवश्यक है—शारीरिक तनाव का विसर्जन और मानसिक तनाव का विसर्जन। शारीरिक तनाव का समाप्त होना और मानसिक ग्रथियो का खुल जाना ही कायोत्सर्ग का सधना है। जब तक 'शरीर

मेरा है' और 'मै शरीर का हू'—यह पकड़ बनी रहती है तब तक मानसिक ग्रथिया कैसे खुलेगी ? नही खुल सकेगी। मन मे सदा तनाव पैदा होते ही रहते है। शरीर पर एक मक्खी बैठते ही तनाव पैदा हो जाता है। जैसे ही मक्खी बैठती है वैसे ही मस्तिष्क के पास सदेश पहुच जाता है। मस्तिष्क का निर्देश होता है और मासपेशिया सक्रिय हो जाती है और मक्खी को उड़ाने का कार्य शुरू हो जाता है। सदेश मस्तिष्क तक पहुचना, मासपेशियो का सक्रिय होना और मक्खी का उड़ाया जाना—यह सब कार्य क्षणभर मे घटित हो जाता है। शरीर बाहर का कुछ भी सहन नही कर सकता। यह शरीर का अभिमान जब तक है तब तक तनाव समाप्त नही हो सकता।

कायोत्सर्ग क्या है ?

एक प्रश्न आता है कि शरीर को सर्वथा छोड देना—यह कैसे सभव हो सकता है ? कायगुप्ति, काय-सयम, काय-सवर, काय-प्रतिसलीनता और कायोत्सर्ग ये सब काया से सबधित है। इन सबका काया से सबध है किंतु कायोत्सर्ग इन सबसे अलग पड़ जाता है।

काया को बचाना कायगुप्ति है। काया से असयम की प्रवृत्ति न करना कायसयम है। काया को सुरक्षित रखना काया की प्रतिसलीनता है। किंतु कायोत्सर्ग कुछ और वस्तु है। उसका सबध सयम या सवर या गुप्ति से नही है। उसका सबध है जो वस्तु चैतन्य के साथ अभिन्नता स्थापित किए हुए है, उस अभिन्नता के सबध को तोड़ देना, सबध का विच्छेद कर देना। चिरकाल से चले आ रहे एकत्व को तोड़ देना, अभिन्नता को समाप्त कर देना। चैतन्य के साथ, आत्मा के साथ काया की जो एकता बनी हुई है, अभेद बना हुआ है, अद्वैत स्थापित हो चुका है, उस अद्वैत को, अभेद को और एकता को तोड़ देना कायोत्सर्ग है। यह है काया का विसर्जन, जीते-जी शरीर को छोड़ देना। जब नक कायोत्सर्ग की स्थिति उपलब्ध नही होती तब तक आध्यात्मिक विकास का कोई भी चरण नही उठता, आगे नही बढ़ता। आध्यात्मिक विकास का पहला चरण तब उठता है जब कायोत्सर्ग सध जाता है। अतर्दृष्टि खुलती है तब कायोत्सर्ग सधता है। जैसे-जैसे कायोत्सर्ग सधता है वैसे-वैसे अतर्दृष्टि का अधिक विकास होता जाता है।

जैसे-जैसे अतर्दृष्टि विकसित होती है कायोत्सर्ग की भूमिका दृढ़तर होती जाती है। अतर्दृष्टि और कायोत्सर्ग–दोनो मे अन्योन्याश्रित सबध है। दोनों मे परस्पर गहरा सबध है। अध्यात्म-साधना का यह पहला चरण है, पहली भूमिका है। अतर्दृष्टि का जागना और कायोत्सर्ग का सधना आध्यात्मिक विकास की पहली भूमिका है। आत्मा और शरीर का भेद-ज्ञान होना, विवेक का पूर्ण जागरण होना–यह पहला चरण है। इसमे मूढ़ता समाप्त हो जाती है। जो मोहकता शरीर के माध्यम से चारो ओर फैल रही थी, वह इस भूमिका मे सिमटने लग जाती है। सयम के लिए और पूरे अध्यात्म-विकास के लिए एक उर्वर भूमि तैयार हो जाती है। जब कायोत्सर्ग सधता है तब उस उर्वर भूमि मे सयम का बीज बोया जा सकता है। भेद ज्ञान स्पष्ट होने पर संयम का बीज बोया जा सकता है। जब विवेक-चेतना जाग जाती है तब अप्रमाद का बीज बोया जा सकता है। यह अतिम विकास नही है। यह विकास की पहली भूमिका मात्र है। कितु इसके हुए बिना अध्यात्म का विकास हो ही नही सकता। इसके होने पर ही अध्यात्म का शेष विकास होता है, इसलिए इस भूमिका का बहुत बडा महत्त्व है। जब कायोत्सर्ग सधता है तब विकास की नई-नई दिशाए उद्घाटित होने लग जाती है। अध्यात्म के नए आयाम खुलने लग जाते है। उद्घाटित होने वाला पहला आयाम है अभय का। जब तक देहाभिमान से छुटकारा नही मिलता तब तक हजार प्रयत्न करने पर भी भय समाप्त नही होता है।

योद्धा निर्भीक नही होता

आप सोचते होगे कि युद्ध के मोर्चे पर लड़ने वाले योद्धा का न तो अतर्दर्शन स्पष्ट हुआ है और न कायोत्सर्ग सधा है, कितु वह कितना निर्भीक होता है कि मौत के मुह पर जाकर खड़ा हो जाता है। यह भ्राति है। किसने कहा है कि योद्धा निर्भीक होता है? इस भ्राति को हम तोड़े। अभय वह होता है जो शस्त्र का सहारा नही लता। जो हमेशा शस्त्रो की सुरक्षा मे चलता है, जिसके चारो ओर शस्त्रो का सुरक्षा-कवच है, वह योद्धा अभय कैसे हो सकता है? शस्त्रो का निर्माण भय की प्रतिक्रिया से होता है। अभय व्यक्ति ने कभी शस्त्रो का निर्माण नही किया। आदमी को डर लगा, उसने शस्त्रो

की शरण ली। शस्त्र-निर्माण होने लगा। पहले पत्थर के शस्त्र बनाए तो वे भी डरकर ही बनाए गए थे। फिर लोहे के शस्त्र बनाए तो वे भी भय की ही प्रतिक्रिया-स्वरूप थे। फिर अणु-शस्त्रों का निर्माण हुआ। उनके पीछे भी भय ही काम कर रहा था। भय के बिना शस्त्र-निर्माण व्यर्थ है। भय के बिना शस्त्र-निर्माण की बात आदमी को सूझती ही नही। कुत्ते आदि पशुओ का डर लगा तो आदमी ने लाठी का सहारा लिया। चोरो का भय लगा तो उसने बदूक और तलवार का सहारा लिया। इसी प्रकार बड़े भय के लिए बड़े शस्त्रो का सहारा लेना पड़ा। एक भी उदाहरण ऐसा नही मिलेगा कि डर न हो और आदमी शस्त्रो का भार ढोता फिरे।

सैनिक जीवन से जूझता है, मौत के सामने खड़ा रहता है, फिर भी अभय नही है, अभयाभास है क्योकि वह शस्त्रो की छत्रछाया मे रहता है। आभास होता है कि वह अभय है, पर वास्तव मे वह अभय नही है, भीरु है। इसे और स्पष्ट समझे। जो व्यक्ति लड़ने के लिए जाता है, वह दूसरे को शत्रु मानता है। शत्रु बनाने का मतलव ही है भय का बीज वपन। जिसने शत्रु बनाया, उसके मन मे भय घुस गया। मन मे भय था इसीलिए उसने दूसरे को शत्रु माना, दूसरे को शत्रु बनाया। दूसरे को शत्रु बनाया इसीलिए उसके मन का भय बढ़ गया, भय स्थिर हो गया। जो दूसरे को शत्रु मानता है वह कभी अभय नही हो सकता। जो अपनी सुरक्षा के लिए शस्त्रो का अबार लगाता है वह कभी अभय नही हो सकता। जिस मरने की भावना के पीछे आवेश और उत्तेजना है, वह कभी शात नही हो सकता। जो शात होता है वह कभी लड़ाई नही कर सकता। जो अशात होकर अभय का प्रदर्शन करता है वह यथार्थ मे अभय नही हो सकता। यह उत्तेजनाजनित अभय अभय का भ्रम पैदा करता है, किंतु वास्तव मे वह अभय नही है।

कायोत्सर्ग की पहली निष्पत्ति

अभय वही व्यक्ति हो सकता है जो शरीर की आसक्ति को तोड़ चुका है, छोड़ चुका है। जिसका कायाभिमान छूट गया, उसे दुनिया मे कोई भयभीत नही कर सकता। कायोत्सर्ग की पहली निष्पत्ति है—अभय का घटित होना।

जब अभय होता है तब शांति प्रस्फुटित होती है। अशांति के पीछे बहुत बड़ा कारण होता है भय का। भय से जितना तनाव पैदा होता है उतना तनाव और किसी वस्तु से नही होता।

परिग्रह और भय

मनुष्य मे परिग्रह की मूर्च्छा होती है। किंतु इस परिग्रह की मूर्च्छा के साथ भय जुड़ा हुआ होता है। आदमी इसीलिए परिग्रह का सचयन करता है कि वह बीमार होने पर काम आ सके। वह सोचता है–परिग्रह का सचय नही करूगा तो बुढ़ापे मे क्या गति होगी ? इस भय से वह परिग्रह का सचय करता है। 'मै बड़ा आदमी नही बनूगा, धनवान नही बनूगा और दूसरे बन जाएगे तो मेरी क्या स्थिति होगी'–इस विचारधारा मे भय ही काम करता है। अर्जन के साथ भय जुड़ा हुआ है और सरक्षण के साथ भी भय जुड़ा हुआ है।

शरीर भी परिग्रह है। सस्कार भी परिग्रह है। धन भी परिग्रह है। परिग्रह के साथ भय जुड़ा हुआ है। वह कभी नही छूटता।

एक धनाढ्य सेठ था। उसे अपनी कन्या का विवाह करना था। वह विषकन्या थी। कोई भी आदमी उससे विवाह करता तो वह दूसरे ही दिन भाग जाता। आदमी धन के लालच से विवाह तो कर लेता किंतु वह कन्या से सपर्क नही कर पाता, क्योकि उस कन्या का स्पर्श अग्नि जैसा था और हर कोई उस स्पर्श को सहन नहीं कर पाता था। सेठ ने सोचा–अच्छा आदमी इस कन्या से विवाह नही करेगा। सभव है भिखारी धन के लालच से विवाह कर ले। एक दिन उसने अपने कर्मचारियो से कहा–"किसी भिखारी को ले आओ, कन्या का विवाह करना है।" भिखारी लाया गया। उसे स्नान कराकर अच्छे कपड़े पहनाये, अलकार धारण करवाये। सब कुछ किया। धन का प्रलोभन दिया। उसके हाथ मे जो भीख मागने का खप्पर था, उसे छीनकर कर्मचारी बाहर फेकने लगे। यह देखकर भिखारी चिल्ला उठा। उसने कहा–'मेरा खप्पर जा रहा है। मैं इस खप्पर के साथ इतने वर्षो तक जीया, आज यह मेरे से बिछुड़ रहा है।" भिखारी के साथ खप्पर का जो सस्कार जुड़ा हुआ था, वह एक साथ कैसे छूटता ? उसके सामने धन का अबार

लगा हुआ था। उसके सामने उस तुच्छ खप्पर का मूल्य ही क्या था ? किंतु खप्पर के सस्कार को तोड़ना उसके वश की बात नही थी। वह रोने लगा। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा--"मेरा खप्पर छूट रहा है, मेरे से बिछुड़ रहा है।" सेठ ने अपने कर्मचारियो से कहा--"ऐसा मत करो। खप्पर को मत फेको। यह इसी के पास रहने दो।" कर्मचारियो ने खप्पर उस भिखारी के पास रख दिया। खप्पर को पाकर वह स्वस्थ और शात हो गया। उसे ऐसा लगा मानो सब कुछ पा लिया हो। उस भिखारी मे भय था कि खप्पर छूट जाने पर कल क्या होगा ?

कोई भी आदमी पदार्थ के साथ जुड़े हूए भय को तब तक नही तोड़ मकता जब तक कि वह पदार्थ को नही छोड़ देता। जब तक पदार्थ की मूर्च्छा नही टूटती, सस्कारो की मूर्च्छा नही टूटती, शरीर की मूर्च्छा नही टूटती, तब तक भय को नही तोड़ा जा सकता, कभी नही मिटाया जा सकता।

तनाव-विसर्जन पहली शर्त

मनुष्य के मन मे एक तनाव के बाद दूसरा तनाव उत्पन्न होता रहता है। भय की मूर्च्छा टूटते ही तनाव समाप्त होने लग जाते है, शाति उतर आती है। जब शाति उतर आती है तब दु ख-मुक्ति की भावना जागृत होती है। तनाव मे आदमी की भावना दु ख-मुक्ति की नही होती। तनाव तनाव को पकड़ता है। आकाश-मडल मे सब प्रकार की ऊर्जाए फैली हुई है। प्रत्येक ऊर्जा अपनी सजातीय ऊर्जा को खीचती है, पकड़ती है। तनाव से तनाव पकड़े जाते है। मन मे इतने तनाव भर जाते है कि अब पागलपन के अतिरिक्त कुछ भी नही बचता। जब तक तनावो का विसर्जन नही होता तब तक मानसिक ग्रथियो का विकास नही होता है। हजारो उपदेश बेकार चले जाते है। उनका कोई असर नही होता। जब तक सारा मस्तिष्क, समूचा स्नायु-सस्थान, समूचा मन और शरीर--ये सब तनावो से भरे हुए है, ग्रथियो से भरे हुए है तब रिक्त स्थान कहा है जहा उपदेश जाकर टिक सके। तनाव मे कोई उपदेश नही समा सकता। इसकी पहले चिकित्सा होनी चाहिए। तनाव-विसर्जन की चिकित्सा के साधन है--मानसिक प्रयोग, ध्यान, प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा और भावना। उनके द्वारा सबसे पहले तनावो को बाहर निकाले, फिर कोई

बात भीतर ले जाएं। वह बात भीतर जम जाएगी। आप तनावों की ग्रंथियों को न खोले और उपदेश का अंबार भी लगा ले तो भी वे व्यर्थ होगें। वे लौटकर आपके ही पास आएगे, भीतर तक नही बैठ पाएगे। उन उपदेशों का कोई दोष भी नहीं है, क्योंकि तनाव उनको स्वीकार ही नहीं करते, उनको भीतर जाने नही देते।

जब शाति आती है तब तनाव टूटने लगते है, कम होने लगते हैं, तनाव कम होते ही दु ख-मुक्ति की भावना प्रबल हो उठती है। यह कायोत्सर्ग की तीसरी निष्पत्ति है। तब साधक छटपटा उठता है कि दु खों से छुटकारा कैसे मिले ? दु ख-मुक्ति कैसे हो ? जब यह भावना प्रबल होती है तब पदार्थ के प्रति सारा दृष्टिकोण ही बदल जाता है। पदार्थ के प्रति पलने वाली आसक्ति टूटने लगती है। वह एक साथ नही टूटती, दृष्टिकोण बदलते ही शरीर की आज्ञाओ का पालन करने की भावना नही होती, कितु शरीर के साथ एक समझौता हो जाता है।

कायोत्सर्ग की निष्पत्तिया

महावीर ने दीक्षित होते ही सबसे पहले सकल्प किया था, "आज से मै शरीर को छोड़ रहा हू। मै उसकी कोई सार-सभाल नही करूगा।" फिर उन्होने शरीर के साथ समझौता किया कि "शरीर मुझे साधना में सहयोग दे रहा है तो मै भी उसका निर्वाह करूँगा।"समझौता हो गया। अब शरीर वह नही रहा कि वह हुकूमत चलाता रहे, जैसे-जैसे शरीर के कार्य हमारे सामने आते जाए और हम उनकी नौकरी करते ही चले जाएं। महावीर ने यह नौकरी करनी बद कर दी। उन्होने सोचा--काटा चुभे तो चुभे, मैं उसे नही निकालूगा। शरीर पर कुछ भी पड़े, मै नही पोछूगा। उन्होने शरीर की सारी नौकरी बद पर दी। वे ठीक इस समझौते के साथ चले कि तुम मेरा सहयोग करो, मै तुम्हारा निर्वाह करूगा। इससे आगे तुम मेरे से आशा मत रखो। यह निर्वेद जाग जाता है। उसमे यह निर्वेद प्रकट होता है तब वह शरीर की अधीनता को समाप्त कर समझौते के साथ चलता है। जिस व्यक्ति मे अभय, शाति, दु ख-मुक्ति की जिज्ञासा और दु ख-मुक्ति के लिए अनासक्ति का भाव जाग जाता है, वह मृदु हो जाता है। उसमे कोई कठोरता नही होती। उसमें अनन्त

करुणा, अनन्त मैत्री का स्रोत उमड़ पड़ता है। कठोरता तब तक जागृत रहती है जब तक व्यक्ति को यह अनुभव नही होता कि दु ख हेय है। जब व्यक्ति दु ख के प्रति जागृत हो जाता है, दु ख से छुटकारा पाने के लिए तड़प उठता है तब वह इतना मृदु हो जाता है कि वह न स्वय दु ख को आमन्त्रित करता है और न दूसरो पर दु खो को आरोपित करता है। उसमे अनन्त करुणा का भाव जाग जाता है। जब इतना होता है तब उसकी सत्यनिष्ठा प्रकट होती है। कोई भी सदेह नही रहता सत्यनिष्ठा मे। वह इतना सत्यन्ष्ठि हो जाता है कि वह सत्य के लिए ही जीता है, और किसी के लिए नही जीता। जो कुछ करता है वह सब सत्य के लिए करता है। श्वास लेता है तो सत्य के लिए लेता है और श्वास छोड़ता है तो सत्य के लिए छोड़ता है। अन्न खाता है ना सत्य के लिए खाता है और अन्न छोड़ता है तो सत्य के लिए छोड़ता है। प्राण धारण करता है तो सत्य के लिए करता है और प्राणो की बलि देनी होती है तो सत्य के लिए प्राण-बलि देता है। ऐसे व्यक्ति के लिए कुछ भी असभव नही रहता। ये सारी निष्पत्तिया कायोत्सर्ग से सधती है।

स्वस्थ चितन

जिस व्यक्ति की अतर्दृष्टि जाग जाती है, जिसका कायोत्सर्ग सध जाता है उसमे नई-नई दिशाए उद्घाटित होती है, नए-नए आयाम खुलते है, उसका सारा जीवन बदल जाता है। चितन की धारा मे परिवर्तन आ जाता है। चितन स्वस्थ हो जाता है। मूढ़ता की अवस्था मे चितन स्वस्थ नही रहता। अतर्दृष्टि की अवस्था मे चितन अस्वस्थ नही रह सकता, स्वस्थ हो जाता है। जो चितन मोह मे स्फूर्त होता है वह कभी स्वस्थ नही हो सकता। अस्वस्थ चितन से शरीर और मन दोनो अस्वस्थ हो जाते है। स्वस्थ चितन से शरीर और मन-दोनो स्वस्थ होते है।

स्वस्थ चितन का पहला सूत्र है–अन्यत्व की अनुप्रेक्षा। इससे जो आज तक उपलब्ध नही हुआ था, वह उपलब्ध हो जाता है। 'मै शरीर से भिन्न हू और शरीर मुझसे भिन्न है–यह अन्यत्व भावना, अनुप्रेक्षा जाग जाती है। और जैसे-जैसे अन्यत्व की भावना पुष्ट होती चली जाती है वैसे-वैसे आत्मा का ज्ञान, आत्मा का प्रकाश हजारो-हजारो रश्मियो को फैलाता रहता है और

मोह का अंधकार विलीन होता चला जाता है। अन्यत्व की भावना के जागरण के साथ अनेक ग्रंथियां खुल जाती हैं। शरीर को अपना मानकर जितने तनाव पैदा किए थे, जितनी ग्रंथियो का पात हुआ था, वे सारे तनाव मिट जाते हैं, वे सारी ग्रंथियां खुल जाती हैं।

देहाभिमान : कष्टो का जनक

शरीर में बीमारी हुई, आदमी रोने लग जाता है। शरीर को थोड़ा-सा कष्ट हुआ, आदमी दीन बन जाता है। आप सोचते होंगे कि कष्ट के कारण ऐसा होता है। यह सच नहीं है। कष्ट के कारण ऐसा नही होगा। यह होता है ग्रथियो के कारण, सस्कार के कारण। हमारा देहाभिमान इतना पुष्ट है कि हमने मान लिया कि शरीर को कुछ भी कष्ट नही होना चाहिए। इस मान्यता के कारण ही यह सब होता है। जिन व्यक्तियो ने इस मान्यता को तोड़ दिया, देहाभिमान के टुकड़े-टुकड़े कर दिए, हजारो कष्टो के आने पर भी उनकी मधुर मुसकान को कभी नहीं मिटाया जा सकता। उनके चेहरे पर कभी दीनता का भाव नही उभरता। वे कभी खिन्न नहीं बनते। वे बहुत बड़ी शारीरिक वेदना के होने पर भी उसकी अवज्ञा कर देते हैं, उस ओर ध्यान ही नहीं देते। शरीर को कष्ट होता है, इसलिए आदमी नहीं रोता। किन्तु मेरे शरीर को कष्ट नही होना चाहिए, यह मान्यता उसे रुलाती है। इसी मान्यता के कारण आदमी रोता है। जब अन्यत्व-भावना पुष्ट हो जाती है तब 'मेरे शरीर को कष्ट नहीं होना चाहिए'—यह ग्रथि खुल जाती है, ग्रंथि समाप्त हो जाती है। फिर कष्ट होता है तो वह द्रष्टा की भाति देखता है कि शरीर मे कुछ हो रहा है। कुछ घटना घटित हो रही है। वह केवल द्रष्टा होता है, सवेदक नही।

एक व्यक्ति आया। वह ध्यान का अभ्यास कर रहा था। मैंने पूछा—"ध्यान का क्रम चल रहा है?" उसने कहा—"दर्द हो रहा था, इसलिए अभी बद कर रखा है।" मैंने कहा—"जहां दर्द है, उसी पर ध्यान करो। उस दर्द पर ही मन को एकाग्र कर दो।" उसने वैसा ही किया। पाच-दस दिन तक क्रम चला। जैसे-जैसे ध्यान करता गया, कष्ट का भान ही समाप्त हो गया।

अपना अनुभव अपने लिए

दर्द किसको होता है, आत्मा को या शरीर को ? आत्मा को कोई दर्द नही होता। हमने अपनी सारी चेतना को दर्द के साथ जोड़ रखा है और इस मान्यता के आधार पर जोड़ रखा है कि यह दर्द मुझे हो रहा है। तब आपको यह सारा दर्द हो रहा है। यदि भेद-ज्ञान स्पष्ट हो जाए, अन्यत्व का चितन स्पष्ट हो जाए तो हम स्वास्थ्य के एक ऐसे वातायन मे जाकर बैठेगे जहा से द्रष्टा की भाति देख सकेगे कि यह रहा दर्द और यह रहा मै। यह रहा पथिक और यह रहा मै। जैसे वातायन पर बैठा आदमी रास्ते चलते आदमी को देखता है, वैसे ही वह कष्ट को अलग देखेगा। अन्यत्व भावना के विकसित होने पर यह स्थिति बनती है। मै कोई तत्त्व-चितन की बात नही कर रहा हू। यदि यह तत्त्व-चितन की बात होती तो मेरी बात का प्रतिपक्ष भी होता, मेरे तर्क का प्रतितर्क भी होता, मेरी उक्ति की प्रत्युक्ति भी होती। कितु यह सारी साधना की बात है। हर व्यक्ति को अनुभव करने की बात कह रहा हू। मेरा अनुभव आपके काम नही आ सकता और आपका अनुभव मेरे काम नही आ सकता। आपका तर्क मेरे काम आ सकता है और मेरा तर्क आपके काम सकता है। ऐसा हुआ भी है। दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र के हजारो ग्रथ रचे गए। किसी एक दर्शनशास्त्री ने अच्छा तर्क प्रस्तुत किया तो आने वाले विद्वानो ने उस तर्क को अपना लिया और उसे दोहराते गए। एक का तर्क दूसरे के काम आ जाता है, एक की उक्ति दूसरे के काम आ जाती है। कितु अनुभव किसी के काम नही आता। प्रत्येक का अनुभव अपना-अपना होता है। यह सारी अनुभव की बात है। साधक भेदज्ञान को प्राप्त करे, विवेक-चेतना का जागरण करे, आत्मा की भूमिका पर आकर आत्मा और शरीर के अन्यत्व अनुप्रेक्षा की बात करे, कायोत्सर्ग की साधना करे। उस भूमिका पर पहुचकर वह यह अनुभव करे कि ऐसा हो सकता है या नही। यदि तर्क की भूमिका पर इसे परखने का प्रयत्न होगा, शल्य-चिकित्सा होगी तो तर्क ही हाथ लगेगा, अनुभव प्राप्त नही होगा। इतना हो सकता है कि आप मेरी कही हुई बातो का खडन कर सकेगे। ऐसा लगेगा कि मेरी कही हुई बाते अस्वाभाविक है। मै आपको सावधान किए देता हू कि आप इन बातो को

तर्क की दृष्टि से न देखें, साधना की दृष्टि और अनुभव की दृष्टि से देखे।

शैक्षणीय और करणीय

जिसने कायोत्सर्ग किया उसने साधना की भूमिका पर आकर ही किया। जिसकी अतर्दृष्टि खुली, वह साधना की भूमिका पर ही खुली। उसने साधना के द्वारा ही यह समझा कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। तर्क के द्वारा समझा हुआ व्यक्ति इस भूमिका पर नही पहुच सकता।

दो बाते हैं—एक है शैक्षणीय और एक है साक्षात् करणीय। शैक्षणीय बाते आगम से, शास्त्र से, गुरुमुख से या परम्परा से सीखी जाती है। बहुत से लोगो ने 'आत्मान्य पुद्गलश्चान्य'—आत्मा अन्य है और पुद्गल अन्य है—इसे रट रखा है। किंतु जब उनका शरीर कष्टो से आक्रात होता है तब वे इस सिद्धात को बिलकुल भूल जाते है। ऐसी स्थिति मे वह सिद्धात विफल हो जाता है। यह तो विफल होगा ही। उसने तो केवल यह सिद्धात रट रखा है, इसे केवल शैक्षणीय मान रखा है। इसकी एक सीमा होती है। पहले-पहल कोई बात शैक्षणीय होती है, मान ली जाती है, उधार ली जाती है। किंतु उधार को सदा उधार ही बनाए रखे, यह नही होना चाहिए। उधार को चुकाना पड़ता है, अपना कुछ अर्जित करना पड़ता है। हम शैक्षणीय को साक्षात्करणीय बनाए। हम उसे अनुभव मे उतारे कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है। ऐसा होने पर ही यथार्थ घटनाए घटित होने लगेगी।

अन्तर्दृष्टि (३)

एकत्व अनुप्रेक्षा

जब अतर्दृष्टि जागती है तब नई ज्योति मिलती है, ज्योति की अनेक रश्मिया चारो ओर फूट पड़ती हैं। मनुष्य आलोक से भर जाता है। अधकार के सारे बिम्ब समाप्त हो जाते है। उस व्यक्ति को कोई समस्या प्रतीत नही होती, कोई उलझन प्रतीत नही होती। वह सर्वत्र समाधान ही समाधान देखता है। जहां दूसरा मनुष्य अपने को समस्याओ से घिरा पाता है वहा ज्योतिर्मान् मनुष्य अपने समाधान से सकुल पाता है। जब आत्मा और शरीर का भेद स्पष्ट हो जाता है, अन्यत्व की अनुप्रेक्षा अनुभव में उतर आती है तब पहली बार उसे अनुभव होता है कि 'मै अकेला हू।' एकत्व की अनुप्रेक्षा, एकत्व का चितन फूट पड़ता है। वह सोचता है–'मै अकेला हू। जब शरीर भी मेरा नही है तब दूसरा फिर मेरा कौन होगा ? मैंने जिसे स्वजन मान रखा है, वह मेरा कैसे होगा ? यह दूर की बात है। मेरे सबसे निकट है–शरीर। जब शरीर भी मेरा नही है तब वह (स्वजन) मेरा कैसे होगा ? वह स्व कैसे होगा ? वह भी तो पराया ही है।' जब परत्व की बुद्धि जागी तो एक भ्रम और भाग गया। जिसको स्व माना या उसके प्रति राग सचित कर रखा था और जिसे स्व नही माना, पर माना, उसके प्रति द्वेष सचित्त कर रखा था। पराए के प्रति कोई राग नही होता। जो अपना है, उसके प्रति राग होता है। स्व और

पर की जो मान्यता बना रखी थी वह भ्रम भी टूट गया । अब स्पष्ट बोध हो गया कि कोई 'स्व' नही है । जब शरीर भी 'स्व' नहीं है तो दूसरा पदार्थ 'स्व' कैसे होगा ? जब कोई भी 'स्व' नही है तो कोई 'पर' कैसे होगा ? यह 'स्व' और 'पर' की रेखा ही समाप्त हो जाती है अर्थात् सब कुछ 'पर ही पर' है, 'स्व' कुछ है ही नही । और यह भाषा भी समाप्त हो जाती है कि 'पर' कुछ है ही नही । जब 'स्व' ही नही है तो 'पर' कैसे होगा ? कोई 'स्व' हो तो किसी को 'पर' माना जाए । कोई अपना हो तो दूसरे को पराया माना जाए । 'स्व' और 'पर' का चितन ही समाप्त हो जाता है । अकेला, केवल अकेला । वह अपने आपको केवल अकेला ही देखता है ।

सचाई का अनुभव

जब एकत्व की अनुप्रेक्षा, एकत्व का अनुचितन स्थिर होता है, पुष्ट होता है, तब नया चितन उभरता है--मै अकेला हू । शरीर मेरा नही है । कोई भी पदार्थ मेरा नही है । कोई भी व्यक्ति मेरा नही है । सब कुछ अजित्य है । यह सारा सयोग है । शरीर के साथ चैतन्य का सयोग है । शरीर के साथ दूसरे पदार्थो का सयोग है, दूसरे व्यक्तियो का सयोग है । वह भी अनन्तर नही, परपर । अव्यवहित नही, व्यवहित । बीच मे व्यवधान है । चैतन्य के बीच मे है शरीर और शरीर के बाद है कोई व्यक्ति या पदार्थ । यह सब योग है । जहा योग है वहा वियोग है । जो योग है वह निश्चित ही अनित्य है । योग कभी नित्य नही हो सकता । अनित्य की अनुप्रेक्षा स्पष्ट होती है, तब अनित्य भी अनुभव बन जाता है । जब अनित्य अनुभव बन जाता है तब उसमे से आलोक की एक किरण निकलती है ।

मनुष्य ने पहले मान रखा था कि पदार्थ कभी काम आयेगा, शरण देगा, त्राण देगा । मनुष्य ने मान रखा था कि परिवार त्राण देगा । मित्र त्राण देगा । अब वह सोचता है--'ये सब स्वय अनित्य है । ये सब मेरे जैसे है, स्वय अत्राण है । फिर भला मुझे कैसे त्राण देगे ?' यह त्राण की भ्राति टूट जाती है । शरण की भ्राति टूट जाती है । इससे अशरण का चितन स्पष्ट हो जाता है । अन्यत्व से एकत्व, एकत्व से अनित्यत्व और अनित्यत्व से अशरणत्व--यह बोध स्पष्ट हो जाता है । एक के बाद दूसरी सचाई उभरती है और सारी भ्रातिया

टूट जाती है । वह अपने आप को पाता है कि मै अकेला हू, कोई भी मेरा नही है । जितने योग है, जो कुछ मुझे प्राप्त है, वह सारा अनित्य है, अशाश्वत है । चारो ओर अत्राण ही अत्राण है । कोई त्राण देने वाला नहीं है । इस सचाई के प्रकट होने पर आदमी बिलकुल बदल जाता है । उसे चारो ओर से असत्य ही असत्य दिखाई देता है ।

एक का क्या मूल्य ?

आप सोच सकते है कि यह सब अव्यावहारिक बाते है । इस चितन से क्या कोई परिवार चलेगा ? क्या कोई समाज चलेगा ? क्या कोई राष्ट्र चलेगा ? यदि सब आदमी अपने को अकेल ही अकेले अनुभव करे तो क्या समुदाय बन पाएगा ? क्या कोई समष्टिगत कार्य हो सकेगा ? क्या कोई शक्ति का निर्माण हो पाएगा ? शक्ति का निर्माण तब होता है जब दो मिलते है, दो का याग होत है । योग होता है तब मकान बनता है । योग होता है तब वस्त्र बनता है । एक अकेला ततु वस्त्र नही बनता । वह नग्नता को ढाकने मे समर्थ नही होता । न वह सर्दी और गर्मी से बचाने मे सक्षम होता है, अकेले ततु की कोई कीमत नही होती । जब ततु मिलते है, उनका परस्पर योग होता है तब वस्त्र बनता है जो नग्नता को ढाकने मे, सर्दी और गर्मी से बचाने मे सक्षम होता है । जहा सगठन होता है, मिलन होता है, समुदाय बनता है, वहा शक्ति पैदा होती है । समाज की सारी शक्ति समुदाय पर निर्भर होती है । समुदाय होते ही शक्ति पैदा हो जाती है । अकेले मे कुछ नही होता ।

दो मे सघर्ष

व्यवहार के धरातल पर यह चितन उभरता है और ऐसा लगता है कि अकेलेपन की बात सर्वदा अव्यावहारिक और असामाजिक है । ऐसा लग सकता है । व्यवहार का अर्थ ही होता है–स्थूल । जब व्यक्ति स्थूल भूमिका पर खड़ा रहकर सोचता है तब वह ऐसा ही सोच पाता है । ऐसा सोचना, उस भूमिका की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण नही है । यह सच है कि एक ईट से कभी मकान नही बनता है । यह कहावत भी सच है कि ईंट से ईट बजती है । जहां दो मिलते है वहा शक्ति पैदा होती है । जहा दो मिलते है वही सघर्ष

पैदा होता है, चिनगारिया उछलती है। दो होने के साथ विशेषताए भी है और दो होने के साथ कठिनाइया और समस्याए भी है। अकेले आदमी ने कभी लड़ाई न की हो, ऐसा भी कही नही मिलता। दो मे कभी न कभी टकराहट हो ही जाती है। निरतर साथ रहने वाले पिता-पुत्र, पति-पत्नी भी बिना टकराहट के नही रह पाते। प्रतिबिब से भी टकराहट हो जाती है। चिड़िया काच पर बैठती है और अपने ही प्रतिबिब से लड़ने लग जाती है। वह प्रतिबिबित चिड़िया के चोच मारती जाती है, जब तक कि उसकी चोच घायल नही हो जाती। शेर ने पानी मे अपना प्रतिबिब देखा और उसे मारने के लिए दौड़ा। वह पानी मे डूबकर मर गया, अपने प्राण न्योछावर कर दिये किंतु वह बिना टकराहट के नही रह सका। जब प्रतिबिब से भी टकराहट हो जाती है तो साक्षात् मे बिना टकराहट के रहना असभव-सा हो जाता है।

अकेला होना   एक सचाई

उपनिषद्कार कहते है–'द्वितीयाद् वै भयम्।' जब दूसरा होता है तब भय उत्पन्न होता है। जब दूसरा होता है तब कार्य मे बाधा आती है, स्वतत्रता खडित हो जाती है। अकेले मे व्यक्ति जो कुछ चाहे कर सकता है, किंतु जब दूसरे के आने की आशका होती है तब सावधान हो जाता है। मनचाहा कर नही सकता। इस प्रकार दूसरा होता है तब आशका उत्पन्न होती है, भय होता है, सघर्ष होता है। इस पहलू को ध्यान मे रखना है। अकेला होना अस्वाभाविक नही है, असामाजिक नही है। जो व्यक्ति समाज मे रहता हुआ भी अपने आपको अकेला अनुभव करता है वह हजारो समस्याओ से बच जाता है। आचार्य भिक्षु ने कहा–'गण मे रहू निरदाव अकेलो'–मैं सघ मे रहकर भी अकेला रहूगा। यह साधना का मूल्यवान सूत्र है। व्यक्ति ने मान लिया कि यह मेरा है, किंतु जब उसे अपनी भावना की पूर्ति नही होती तब वह सिरदर्द बन जाता है। वेदना होती है, पीड़ा होती है। अगर किसी को अपना नही माना, फिर चाहे वह गाली भी देता है तो कोई वेदना नही होती, कष्ट नही होता। जिसे अपना मान लिया वह यदि थोड़ी-सी भी चुभती बात कहता है तो भयकर वेदना होती है, समस्या उभर आती है। जो मेरेपन से जितना अधिक निकट होता है, उसकी बात ज्यादा चुभती है। पड़ोसी ने

कहना नहीं माना तो व्यक्ति को इतनी वेदना नही होती। बेटे ने बात नही मानी, पत्नी ने बात नही मानी तो मन अत्यधिक दु खी हो जाता है, तीव्र वेदना हो जाती है। चितन आता है कि मैने इसे पाला-पोसा, मैने इसके सुख-दु ख मे साथ दिया, और वही मेरी बात को मानने से इन्कार कर गया। बस, उसकी उत्तेजनाए एक साथ घनीभूत हो जाती है। जहा व्यक्ति ने दूसरो मे अपनत्व का आरोपण किया, उसने हजारो समस्याए को जन्म दे डाला। दोनो बाते मानकर चले–सचाई को सचाई माने और व्यवहार को व्यवहार माने। समाज मे यदि जीना है तो समाज के व्यवहार को भी निभाना होगा। किंतु व्यवहार की ओट मे छिपी हुई वास्तविकता को कभी नही भुलाना चाहिए। 'मै अकेला हू'–यह एक सचाई है। 'मै एक सामाजिक प्राणी हू'–यह हमारा व्यवहार है, अपेक्षा है, सापेक्षता है। सापेक्षता सचाई नही है, फिर भी सामाजिक प्राणी को उसे स्वीकार करना होता है। सचाई केवल यही है–मै अकेला हू। जो व्यक्ति इन दोनो बातो को मानकर चलता है, उससे समाज का व्यवहार भी नही टूटता और वह अपने आपको हजारो समस्याओ से उबार भी लेता है। जो व्यक्ति शाश्वत को विस्मृत कर, अशाश्वत को शाश्वत जैसा मान लेता है, उसे बहुत कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। सयोग को उसने शाश्वत मान लिया। मूर्च्छा इतनी घनीभूत हो गई कि उसने अशाश्वत मे शाश्वत का आरोपण कर डाला। चाहे पदार्थ हो या व्यक्ति, उसने सबको शाश्वत मान लिया। ससार का यह सार्वभौम नियम है कि योग का वियोग होता है। अनचाहे भी वियोग होता है। जब वियोग होता है तब वेदना होती है। कुछ ऐसे व्यक्ति होते है जिनमे मूर्च्छा इतनी प्रगाढ़ होती है कि पदार्थ के चले जाने पर वे वर्षो तक रोते रहते है, शोक करते है। यह सारा होता है अशाश्वत को शाश्वत मान लेने के कारण। उस व्यक्ति ने एक भ्राति को पाल रखा है और इसलिए वह वेदना का अनुभव करता है। वह सारा भ्रान्ति-जनित कष्ट है। जो असत्य उसने पाल रखा है, उसकी पुष्टि के लिए सारा हो रहा है। यदि सचाई का बोध स्पष्ट हो, यदि सचाई की अनुभूति हो तो वह कभी ऐसा नही कर सकता। उसका चितन होगा–ससार का जो सार्वभौम नियम है उसे बदला नही जा सकता, टाला नही जा सकता। मनुष्य अत्राण

को त्राण मान लेता है और जब उससे त्राण नही मिलता तब बेचैनी पैदा होती है।

स्वार्थ और त्राण

दो व्यक्तियो को जोड़ने वाला सूत्र है–स्वार्थ। एक का दूसरे से हित सधता है, एक दूसरे के काम आता है, तब तक एक दूसरे को त्राण मान लेता है। स्वार्थ का धागा जब टूट जाता है, तब वह सोचता है–'अरे! यह क्या! मैंने उसे त्राण मान रखा था, एक सहारा मान रखा था, आलंब मान रखा था, वह मेरे से सर्वथा अलग हो गया।' ऐसा सोचते ही वह वेदना का अनुभव करने लग जाता है। यदि प्रारभ से ही यह सचाई स्पष्ट हो कि ससार मे कोई किसी का त्राण नही होता तो फिर कष्ट की अनुभूति नही होती।

अनित्य अनुप्रेक्षा

त्राण अपने आप मे है। अपने पास अपना साथी है–चैतन्य। यदि हम अकेले रहे और अपने साथी को न भूले, अपने त्राण मे रहे, अपनी शरण मे रहे तो मनसिक विकृतिया कम हो जाती है। बहुत सारी पीड़ा जो व्यर्थ ही भोगनी पड़ती है, वह समाप्त हो जाती है। किंतु यह कोई तत्त्वज्ञान की बात नही है, केवल जानने की बात नही है, यह अनुभव मे उतारने की बात है। यदि हम केवल जान ले कि मै अकेला हू, सब-कुछ अनित्य है, कोई त्राण नही है तो इससे कुछ भी घटित नही होगा, समस्याओ से छुटकारा नही मिल पाएगा, कठिनाइया कम नही होगी। जब हम इन सारी बातो को साधना के द्वारा अनुभव मे अवतरित कर देते है, तब हम व्यर्थ की पीड़ा से बच जाते हैं।

महावीर ने छह महीने तक अनित्य अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया था। अकेले व्यक्ति को यदि तीन महीने तक एक कोठरी मे बद कर दें और वह यह सोचता रहे कि 'मैं अकेला हू' तो तीन महीने के बाद जब वह बाहर आएगा तो वह इतना बदल जाएगा कि बाहर की दुनिया उसे झूठी प्रतीत होने लगेगी। वह सोचेगा–सब-कुछ झूठ ही झूठ है। जो लोग अपने सबंधो की चर्चा करते हैं, वह सब असत्य है। ससार मे होने वाले सबध सत्य नही

हैं, सत्य है अकेलापन।

इस प्रकार जो व्यक्ति तीन या छह महीने तक अन्यत्व, एकत्व, अनित्यत्व, अशरणता आदि का अभ्यास कर लेता है, वह मानसिक विकृतियो से मुक्त होकर स्वस्थ चितन करने वाला, स्वस्थ व्यक्तित्व वाला बन जाता है।

व्यवहृत सचाइयों का आश्रयण

किंतु साधना के बिना ऐसा हो नही सकता। व्यक्ति चाहे हजार बार अन्यत्व की बात सुने या हजार बार उसकी रटन लगाए, बिना अभ्यास के वह घटित नही होगा जो होना चाहिए। एक सस्कार को मिटाने के लिए दूसरे सस्कार का निर्माण जरूरी होता है। नौका तभी छूटती है जब व्यक्ति तट पर पहुच जाता है। तट पर पहुचे बिना नौका नही छोडी जा सकती। सभी दु खो से मुक्त होने के लिए शरीर को छोड़ना होता है, किंतु जब तक आत्मा का पूरा प्रकाश उपलब्ध नही हो जाता तब तक शरीर को भी नही छोड़ा जा सकता। जब तक मिथ्या सस्कार समाप्त न हो जाए तब तक अच्छे सस्कारो को नही छोड़ा जा सकता। भ्रातियो के जाल को समाप्त करने के लिए कुछ व्यवहृत सचाइयो का सहारा लेना ही पड़ता है।

ग्रहणशीलता की समाप्ति

जब तक अनित्यता, एकत्व या अशरणता सस्कार नही बन जाता, तब तक मानसिक विकृतियो से छुटकारा नही मिल सकता। इस सस्कार के बनने पर कुछेक विशेष निष्पत्तिया होगी। जब ये सस्कार पुष्ट हो जाएगे तब मस्तिष्क की एक दिशागामी ग्रहणशीलता समाप्त हो जाएगी। आज का प्रत्येक प्राणी सक्रमण का जीवन जीता है। वह बाहर को प्रभावो के ग्रहण करता है। इस सक्रमण को नही रोका जा सकता। किंतु जो व्यक्ति स्वस्थ चितन से अपने आपको कवचित कर लेता है, कवच पहन लेता है, वह बाहरी सक्रमणो और प्रभावो को रोक सकता है। बड़े-बड़े साधक साधना-काल मे नग्न रहकर अनेक प्रकार के शारीरिक कष्टो को सहन करते है। अनेक रोगो के लिए उनका शरीर अनुकूल होता है, फिर भी वे उन रोगो से आक्रात नही होते। प्रश्न

होता है, क्यो ? इसका समाधान है कि उनके मस्तिष्क और शरीर की ग्रहणशीलता समाप्त हो जाती है। उनका मस्तिष्क रिसैप्टिव नहीं रहता। उनका शरीर भी ग्रहणशील नही रहता। वह बाहरी प्रभावों से अपने आपको बचा लेता है। बाहरी प्रभाव और शरीर के बीच मे एक कवच आ जाता है। वे प्रभाव कोई असर पैदा नही कर सकते।

ऐसा व्यक्ति अनावश्यकताओं से सर्वथा मुक्त हो जाता है। उसके जीवन मे केवल आवश्यकताए शेष रहती है। उस व्यक्ति के साथ उसी का सपर्क होगा जो आवश्यक है। मूर्च्छा या मोह पैदा करने वाला या भुलावे मे डालने वाला सपर्क नही होगा। वह किसी भी वस्तु को स्वीकार करेगा तो केवल आवश्यकता के लिए स्वीकार करेगा। उसे शाश्वत सयोग मानकर कभी स्वीकार नही करेगा। सयोग उसमे प्रसन्नता पैदा नही करेगा और वियोग उसमे खिन्नता नही लाएगा। वस्तु के प्राप्त होने और चली जाने मे कोई फर्क नही होगा। उसमे मात्र आवश्यकता बचेगी, आवश्यकता समाप्त हो जाएगी।

शरण-अशरण क विवेक

हम प्रतिदिन पाठ करते है—'अरहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि'—मैं अर्हत् की शरण स्वीकार करता हू। मै सिद्ध की शरण स्वीकार करता हू। एक ओर हम यह पाठ करते है और दूसरी ओर अशरण की बात करते है। यह विपर्यास क्यो ? शरण की बात करना भी एक सचाई है और अशरण की बात करना भी एक सचाई है। यदि हम अरहंत को अपने से भिन्न मानकर उनकी शरण मे जा रहे है तो यह एक बहुत बड़ी भ्राति होगी। हम अरहत को अपने आत्म-स्वरूप से भिन्न न माने। हमारा अर्हत् स्वरूप ही हमारे लिए शरण है, और कोई शरण नही हो सकता, न महावीर शरण होगा और न कोई दूसरा शरण होगा। इसीलिए शरण-सूत्र मे 'अरहते सरण पवज्जामि' है किंतु 'महावीर सरण पवज्जामि' नही है। समूचे शरण-सूत्र मे शुद्ध आत्मस्वरूप ही शरण है, कोई व्यक्ति शरण नही है। एक व्यक्ति शरण देने वाला हो और दूसरा शरण मे जाने वाला हो तो शरण देने-लेने वाले का भेद समाप्त ही नही होता। महावीर ने अशरण का सूत्र दिया। उन्होने किसी को शरण नही बतलाया। उन्होने कहा—"असरण सरण मन्नमाणे वाले

लुप्पइ''–अशरण को शरण मानने वाला अज्ञानी मनुष्य नष्ट हो जाता है। शरण कोई है ही नही। जो दूसरा है, वह शरण कैसे होगा ? आत्मा का शुद्ध स्वरूप है–अर्हत्। आत्मा का सिद्ध स्वरूप है–सिद्ध। आत्मा का साधक रूप है–साधु। आत्मा का चैतन्यमय रूप है–धर्म। कोई दूसरा शरण नही है, अपनी आत्मा ही शरण है। 'नाण सरण मे', 'दसण सरण मे', 'चरित्त सरण मे'–ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र (वीतरागता) की त्रिपुटी है–अर्हत्।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी है–सिद्ध।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी साधना है–साधु।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी का आचरण है–धर्म।

वे सब आत्मा से भिन्न नही है। हम इस भ्राति को तोड़ दे कि हम किसी दूसरे की शरण मे जा रहे है। हम अपनी ही शरण मे जा रहे है, अपने अस्तित्व की शरण मे जा रहे है।

जो व्यक्ति इन अनुप्रेक्षाओ का, इन स्वस्थ चितनो का अनुसरण करता है वह असामाजिक नही होता, अव्यावहारिक नही होता। व्यवहार मे जितना परिष्कार आता है, समाज मे जितना सुधार, क्राति और भलाई आती है, वह ऐसे व्यक्तियो के द्वारा ही आ सकती है। मूर्च्छा मे रहने वाले समाज का सुधार नही कर सकते, समाज की भलाई नही कर सकते और वे सामाजिक क्राति भी नही कर सकते। वे समाज को उन्नति के शिखर पर नही ले जा सकते। वे कैसे ले जाएगे ? जिस व्यक्ति मे पदार्थ के प्रति सघन मूर्च्छा है, जो पदार्थ को नित्य मानता है, वह पदार्थ के लिए इतने सघर्ष करता है कि वह सूमचे समाज को लड़ाई मे ढकेल देता है। जिस व्यक्ति मे केवल सामाजिकता का ही सस्कार है, समुदाय का ही सस्कार है, वह समुदाय के साथ इतना अधा होकर चलता है और वह सोचता है कि जो सब को होगा, वह मुझे होगा। यह सामुदायिकता एक सघन अधकार मे ले जाने की दिशा बन जाती है। जो व्यक्ति दूसरो मे ही अपना त्राण और शरण खोजता है वह अपने आप मे शून्य हो जाता है। यह सोचता है–यह मुझे बचा लेगा। वह दूसरो के पीछे-पीछे चलता है। वह स्वय कभी अपने पैरो पर खड़े होने

का प्रयत्न नही करता। उसे लगता है ये सचाइया केवल आध्यात्मिक सचाइया है। यदि ये सचाइया सामाजिक व्यक्ति मे आ जाए तो समाज का चित्र नया हो जाता है। उसका ऐसा रूप बन जाता है, जैसा कभी नही बना था। आध्यात्मिक भूमिका पर जिस समाज की सरचना होगी और इन सचाइयो के आधार पर जिस समाज का ढाचा खड़ा होगा वह समाज सचमुच ही एक क्रातिकारी, व्यवस्थित, शातिप्रिय और मैत्री-प्रधान होगा।

अतर्दृष्टि का जागरण सूत्र-निर्देश

एक प्रश्न होता है–हम कैसे जाने कि अतर्दृष्टि का जागरण हो गया है ? उसके लक्षण क्या है ?

अतर्दृष्टि का पहला लक्षण है–सम्यग् दर्शन। जिसकी अतर्दृष्टि जागृत हो गई, उसका दर्शन सम्यग् हो जाता है। उसका मिथ्या दर्शन समाप्त हो जाता है। सम्यग् दर्शन के प्राप्त होते ही सारी धारणाए बदल जाती है। जब तक मूढ़ता थी तब तक सुख को दु ख और दु ख को सुख मान रखा था। सम्यग् दर्शन होते ही यह भ्राति मिट जाती है। सुख और दु ख की परिभाषा बदल जाती है। अब वह पदार्थ से होने वाले सुख को सुख नही मानता। उसमे उसे दु ख का प्रतिबिब दीख पड़ता है। वह वास्तव मे ही दु ख होता है, सुख नही। यदि सुख होता तो जितनी बार उस पदार्थ का उपभोग होता तो वह सुख ही देता, दु ख नही। सगीत सुनना सुखदायी माना जाता है। व्यक्ति ज्वर-ग्रस्त है। उसके सामने कितना ही मधुर सगीत क्यो न आए, उससे उसको सुख नही होगा, अपितु उसके लिए वह कष्टप्रद ही होगा। सम्यग् दर्शन के पश्चात् वह व्यक्ति सुख की गहराई मे जाकर यह समझ पाता है कि सुख वह है जहा दु ख का सस्कार समाप्त हो जाए। सुख वह है जो दु ख का अनुबध समाप्त कर दे। दु ख देने वाला सस्कार जहा निर्जीर्ण हो गया, समाप्त हो गया, वही सुख है।

लोग मानते है कि प्रिय व्यक्ति की स्मृति करना सुख है। प्रिय व्यक्ति चला गया, उसकी स्मृति सताने लग जाती है। वही प्रिय व्यक्ति दु ख का कारण बन जाता है। हम प्रियता के नाम पर जितना दु ख भोगते है, अप्रियता के नाम पर उतना नही भोगते। हम प्रियता के नाम पर हजारो कष्ट झेले

हैं। जो प्रिय व्यक्ति है उसका सब-कुछ सह लेते है। प्रिय व्यक्ति रहता है तब भी दु ख देता है और चला जाता है तब भी दु ख देता है। वह दोनो अवस्थाओ मे दु खदायी होता है। अप्रिय व्यक्ति कोई दु ख नही देता। हमारी कितनी बड़ी भ्राति है कि जो दु ख देता है उसे हम मित्र मान लेते हैं, प्रिय मान लेते है और जो दु ख नहीं देता उसे हम शत्रु मान लेते है, अप्रिय मान लेते है। सम्यग् दर्शन होते ही सुख और दु ख ही सारी धारणा ही बदल जाती है। तब हम सुख उसी को मानते है जो दु ख के सस्कार को समाप्त कर देता है। निर्जरण सुख है। निर्जरण का अर्थ है– सस्कारो की समाप्ति। सस्कार वह है जो फिसलता है, फिर चाहे वह प्रिय व्यक्ति का सस्कार हो या अप्रिय व्यक्ति का सस्कार हो।

जब समस्या आती है, कठिनाई आती है, तब सारा दोष परिस्थिति, वातावरण या निमित्त का मान लिया जाता है। मनुष्य मे जितनी विकृतिया होती है, उनकी उत्पत्ति निमित्तो के कारण मान ली जाती है। निमित्तो का वातावरण पर उनकी उत्पत्ति का आरोपण कर दिया जाता है। कितु सम्यग् दर्शन के घटित होने पर ऐसा नही होता। तब व्यक्ति उस विकृति के उपादान की खोज करता है। वह परिस्थिति या वातावरण के घेरे से मुक्त होकर उपादान की खोज मे निकल पडता है।

रोग का उपादन–कर्म

हम बीमारी के विषय मे सोचे। बीमारी की अनेक धारणाए है। एक सिद्धात है कि बात, पित्त और कफ के दोष से बीमारी होती है। एक सिद्धात है कि कीटाणु रोग के वाहक होते है। एक सिद्धात है कि शरीर मे विजातीय तत्त्वो के सचय से बीमारी होती है। एक सिद्धात है कि बीमारी का मूल कारण है–कर्म। त्रिदोष, कीटाणु, विजातीय तत्त्व–ये रोग के उपादान नही है। रोग का उपादान है–कर्म। रोग का उपादान है–सस्कार। कर्म और सस्कार रोग के उपादान है, ऐसा नही लगता, कितु गहराई से सोचने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह सचाई है। इसे इस तर्क से समझे। निमित्तो के होने पर रोग हो भी सकता है और नही भी हो सकता। निमित्तो के होने पर यदि रोग का उपादान प्राप्त है तो रोग हो जाएगा, अन्यथा निमित्त व्यर्थ ही चले जाएगे।

कितु उपादान के होने पर निमित्त होते है तो रोग निश्चित ही होगा। मूल बात है उपादान। निमित्त उसके सहायक होते है। जब सारा ध्यान सहायक तत्त्वो पर, निमित्तो या वातावरण पर दे देते हैं तब कठिनाई पैदा होती है। सम्यग्‌दर्शन की जागृति होने पर व्यक्ति का ध्यान निमित्तो से हटकर उपादान पर जाता है। वह निमित्तो की सर्वथा उपेक्षा नही करता। उनको भी यह उचित मूल्य देता है कितु उन्हे उपादान का स्थान नही देता, उन्हे मूल नही मानता, गौण मानता है।

अंतर्दृष्टि (४)

अनेकातदृष्टि और फलित

अतर्दृष्टि के जागने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, आग्रह टूट जाता है, अनेकातदृष्टि विकसित हो जाती है। मनुष्य आग्रह से भरा होता है। वह किसी एक बात को जानकर उसको परमसत्य मान लेता है। उसका वह आग्रह करने लगता है। वह उसे अतिम सत्य मान लेता है। फिर कोई नया सत्य सामने आता है, वह उसे अस्वीकार कर देता है। किंतु जब अनेकात की चेतना विकसित होती है तब कोई आग्रह अवशेष नही रहता। जो पहले कहा वही सत्य है या जो पहले जाना वही सत्य है, ऐसी धारणा नही होती। पहले कही हुई बात या पहले जाना हुआ सत्य भी बदला जा सकता है। कुछ लोग कहते है कि पहले ऐसा कहा था, आज ऐसा कहा जा रहा है, यह क्यो ? ऐसा हो सकता है। उस दिन जो जाना था, वह कहा था आज जो नया सत्य ज्ञात हुआ है, वह कहा जा रहा है।

साधना के क्षेत्र मे भी कुछ एकातिक आग्रह हो जाता है। कुछ लोग एक पद्धति को स्वीकार करते हैं, वे दूसरी पद्धति की उपयोगिता को अस्वीकार करना पसद करते हैं। अनेकातदृष्टि जागने पर ऐसा नही होता। पहले एक आग्रह था कि साधना जगल मे ही हो सकती है, किंतु अनेकातदृष्टि के परिप्रेक्ष्य मे जब सोचा गया तो यह धारणा टूट गई। यह भी सोचा गया कि साधना

गांव में भी हो सकती है। साधना अकेले मे ही हो सकती है, यह आग्रह भी नहीं होना चाहिए। साधना समुदाय में भी हो सकती है। समूह मे जो वातावरण मिलता है, वह अकेले में नहीं मिलता। कुछ साधनाएं ऐसी होती हैं जो अकेले में ही हो सकती हैं, समूह में नहीं हो सकतीं। कोई एकांतिक आग्रह नहीं रहता।

स्मृति का निषेध किया जाता है कि ध्यान-काल मे स्मृति न हो। किंतु साधना में स्मृति का भी उपभोग होता है। एकाग्रता है क्या ? ध्रुव स्मृति ही एकाग्रता है। एक वस्तु पर स्मृति निरंतर होती है, वह एकाग्रता बन जाती है।

साधना मे कल्पना नहीं होनी चाहिए, किंतु सकल्प-शक्ति का उपयोग किया जाता है। सकल्प-शक्ति के विकसित होने पर ध्यान के एक नए परिप्रेक्ष्य मे व्यक्ति पहुंच जाता है। इस शक्ति के सहारे अनेक उपलब्धिया होती हैं।

इस प्रकार ध्यान में कल्पना का भी उपयोग है, सकल्प का भी उपयोग है।

संकल्प की शक्ति असीम

एक मानसिक चित्र का हम निर्माण करते है। आज वह घटना घटित नही है, किंतु जब सकल्प-शक्ति के द्वारा एक मानसिक चित्र का निर्माण हो गया तो उस घटना को घटित होना ही पड़ेगा। उसे कोई रोक नही सकता। जैसे एक आदमी अपनी अगुलियो से एक स्थूल वस्तु का निर्माण करता है। वस्तु भी स्थूल और अगुलिया भी स्थूल। वह वस्तु हमारे सामने स्पष्ट रूप ले लेती है। जिस रग से आदमी उस चित्र को रगता है वह रग उसमे उभर आता है। उसने अर्हम् लिखना चाहा तो अर्हम् लिख दिया। जिस रग मे लिखना चाहा, उस रग मे लिख दिया। जिस प्रकार वह अगुलियो से लिखता है, चित्र बनाता है, उसी प्रकार वह सकल्प-शक्ति से भी वह काम कर सकता है। कहना चाहिए कि अगुलियो की शक्ति से बहुत अधिक शक्ति होती है सकल्प में। अगुलियों की शक्ति की सीमा है, सकल्प-शक्ति असीम होती है। अगुलिया स्थूल हैं। वे हमे प्राप्त है। उनका उपयोग करना हम जानते

है। हमने तूलिका ली, उसे चलाया और अक्षरो का विन्यास हो गया। यदि हम सकल्प-शक्ति का उपयोग करना जान जाए तो आकाश के वायुमडल से परमाणुओ को ले सकते है और उन्हे इच्छित आकार दे सकते हैं और जो हम लिखना चाहते है वह साक्षात् लिखा जा सकेगा। यह है प्रायोगिक परिणमन। यह प्रयोग से होने वाला परिणमन है। अगुलियो के प्रयोग से परिणमन करते है वैसे ही सकल्प-शक्ति से भी हम परिणमन कर सकते हैं और नाना प्रकार के रूपो का निर्माण कर सकते हैं। वैक्रियलब्धि का बीज यही है। वैक्रियलब्धि के आधार पर अनेक रूपों का निर्माण होता है। भावितात्मा अनगार, चतुर्दशपूर्वी इसका प्रयोग कर सकता है। चतुर्दशपूर्वी एक घड़े मे हजार घड़ो का निर्माण कर सकता है। भावितात्मा अनगार, जिसने भावनाओ का अभ्यास किया है, वह भी नाना रूपो का निर्माण कर सकता है। यह सकल्प-शक्ति का प्रयोग है, भावना का प्रयोग है। यदि भावना का अभ्यास पुष्ट हो जाए, सकल्प-शक्ति का विकास हो जाए तो विविध रूपो के निर्माण मे कोई बाधा नही आती। आहारक लब्धि के द्वारा एक पुतले का निर्माण करना, विचारो का सप्रेषण करना, विचारो को मगवाना, अपना प्रतिबिब प्रेषित करना—ये सारे सकल्प-शक्ति के चमत्कार हैं। ये सारे भावना के प्रयोग है। भावितात्मा अनगार इन्हे कर सकता है।

भावितात्मा सवृतात्मा

दो प्रकार के अनगार होते है—भावितात्मा अनगार और सवृतात्मा अनगार। जो सवृतात्मा होता है वह वीतरागता की दिशा मे विकास करता है। वह वीतरागता की ओर बढ़ता चला जाता है। जो भावितात्मा होता है, उसमे शक्ति के प्रयोग की क्षमता का विकास होता है। वह लब्धि-सपन्न हो जाता है।

इस प्रकार साधना के क्षेत्र मे स्मृति का भी उपयोग है और सकल्प का भी उपयोग है। इनका एकातत निषेध नही किया जा सकता। जब किसी एक बिदु पर टिकना होता है, उसे ही देखना होता है तब कल्पना और सकल्प से बचना होगा। उन्हे रोकना होगा। किंतु जब कल्पना और सकल्प का ही उपयोग करना है तब देखना बद करना होगा।

जब अनेकांतदृष्टि जागती है तब सारे आग्रह टूट जाते है। उस समय केवल सत्य ही सामने रहता है। न पूर्व की मान्यता रहती है और न पश्चिम की मान्यता रहती है, न पहले की मान्यता टिकती है और न बाद की मान्यता टिकती है। वही टिकती है जो यथार्थ होता है। अतर्दृष्टि की एक धारा है सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन की एक धारा है अनेकात।

अतीन्द्रिय ज्ञान की स्वीकृति

अतर्दृष्टि का दूसरा लक्षण है—अतीन्द्रिय ज्ञान की स्वीकृति। जब तक मूढ़ अवस्था रहती है तब तक मनुष्य अतीन्द्रिय ज्ञान की सत्ता को स्वीकार नही कर सकता। कषाय का कुहरा इतना सघन होता है, मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि मनुष्य के यह समझ मे भी नही आ सकता कि इन्द्रियो के परे भी कुछ हो सकता है। वह यही मानता है कि जो इन्द्रियगम्य है वही सत्य है, यथार्थ है। जो इन्द्रियगम्य नही है, अतीन्द्रिय हे, उसे कैसे माना जा सकता है ? हजार प्रयत्न करने पर भी वह इस सत्य को नही जान पाता। किंतु जब यह मूर्च्छा टूटती है, जब उसका अनन्त अनुबध सीमित हो जाता है, जब वह नए-नए मोहो का निर्माण नही करता तब उसकी यह चेतना जागती है कि अतीन्द्रिय सत्य भी हो सकता है। इन्द्रियो से परे भी मत्य है। अतीन्द्रिय सत्य को स्वीकृति देने वाली चेतना की जागृति होते ही अतीन्द्रिय सत्यो की खोज प्रारम्भ हो जाती है। ऐसा नही होता कि अतर्दृष्टि के जागते ही सारा अतीन्द्रिय सत्य उपलब्ध हो जाता है। सारा अतीन्द्रिय सत्य उपलब्ध नही होता, किंतु अतीन्द्रिय सत्य की दिशा मे उसकी चेतना गतिशील हो जाती है। उसे खोज निकालने की प्रवृत्ति प्रारभ हो जाती है। अब उस अतीन्द्रिय सत्य के प्रति होने वाली अनास्था, विचिकित्सा और आशका समाप्त हो जाती है। जिस व्यक्ति मे अतीन्द्रिय सत्य को स्वीकार करने की क्षमता जागृत हो गई तो समझना चाहिए कि अतर्दृष्टि का जागरण हो गया है।

अनन्त अनुबध की समाप्ति

अंतर्दृष्टि का तीसरा लक्षण है—अनन्त अनुबध की समाप्ति। अतर्दृष्टि से सपन्न व्यक्ति नए-नए मोहो का निर्माण नही करता। वह नई-नई मूढ़ता

के जाल मे नही फसता, जैसे मूढ़ अवस्था वाला व्यक्ति फसता जाता है। मूढ़ अवस्था वाला व्यक्ति एक समस्या को मिटाना चाहता है किंतु पाच नई समस्याए खड़ी कर लेता है। अतर्दृष्टि के जागने पर नए-नए मोह निर्मित नही होते। व्यक्ति का दृष्टिकोण इतना ऋजु हो जाता है कि वह समस्या का उचित समधान ढढ़ लेता है, नई समस्याए उत्पन्न नहीं करता। उसका अनन्त अनुबध समाप्त हो जाता है।

चिन्तन के तीन्न आयाम्म

अतर्दृष्टि का चौथा लक्षण है—प्रवृत्ति-केद्रित नही होना। जिस व्यक्ति की अतर्दृष्टि जाग जाती है वह प्रवृत्ति-केद्रित नही होता। मूढ़ व्यक्ति प्रवृत्ति-केद्रित होता है। वह अपने चारो ओर प्रवृत्तियो का जाल बुन लेता है। वह प्रकृति को ही प्रधान मानकर चलता है। अतर्दृष्टि से सपन्न व्यक्ति प्रवृत्ति को देखता है तो उसके पीछे रहे हुए हेतु को भी देखता है। इतना ही नही, वह होने वाले परिणाम को भी देखता है। उसके चितन के तीन आयाम होते है—प्रवृत्ति, हेतु और परिणाम। उसका दृष्टिकोण त्रि-आयामी बन जाता है। कोई दु ख आया या कोई सुख आया, वह केवल दु ख या सुख को नही देखेगा। वह देखेगा कि दु ख का हेतु क्या है ? वह देखेगा कि दु ख का परिणाम क्या होगा ? वह देखेगा कि सुख का हेतु क्या है ? वह देखेगा कि सुख का परिणाम क्या होगा ?

प्रवृत्ति का सयम क्यो ?

अध्यात्म के आचार्यो और तत्त्ववेत्ताओ ने इस बात पर बहुत बल दिया कि इन्द्रियभोग का सयम करो, मानसिक तरगो और कल्पनाओ का सयम करो, मन की उच्छृखलता का सयम करो। किंतु असयम जितना अच्छा लगता है, सयम कभी उतना अच्छा नही लगता। जितना सुख असंयम में प्रतीत होता है, सयम मे कोई सुख प्रतीत नही होता। फिर अध्यात्म के आचार्यों ने ऐसा क्यो कहा ? क्या ससार के प्रवाह से विपरीत चलना ही अध्यात्म है ? यदि ऐसा है तो बहुत ही अग्राह्य मार्ग है। वह कभी ग्राह्य नही हो सकता। क्या जो प्रत्यक्ष अनुभव मे आ रहा है, उसे उलट देना ही अध्यात्म का मार्ग

है ? यदि यह है तो वह बहुत तथ्यपूर्ण नही है ।

अध्यात्म के आचार्यों ने प्रवृत्ति के आधार पर यह नही कहा कि इन्द्रियो का सयम करो, मन का सयम करो, मन की उछृखलता को सीमित करो, नियत्रित करो । यदि इसी आधार पर कहते तो यह बहुत तथ्यपूर्ण कथन नही होता । उन्होने हेतु और परिणाम के आधार पर प्रवृत्ति के सयम की बात कही ।

एक कुशल वैद्य केवल औषधि पर ही ध्यान नही देता । वह पथ्य पर भी ध्यान देता है । वह अमुक-अमुक प्रकार के भोजन का निषेध करता है क्योकि वह जानता है, अमुक प्रकार के भोजन का परिणाम क्या होगा । वह परिणाम पर विचार करके ही ऐसा करता है । वह पूर्वभुक्त भोजन को समझकर तथा भविष्य मे उस भोजन से होने वाले परिणामो को ध्यान मे रखकर भोजन का निषेध करता है, पथ्य का विधान करता है ।

प्रवृत्ति की कसौटी परिणाम

पाचो इन्द्रियो के जितने विषय है, मन के जितने विषय है, चाहे स्मृति हो या कल्पना—ये सब वर्तमान मे मनोज्ञ लगते है, प्रिय और मधुर लगते है । फिर भी अध्यात्मवेत्ताओ ने कहा कि इनमे मत फसो, क्योकि इनका परिणाम सुन्दर नही होगा । ये सब आपातभद्र होते है, इनका परिणाम विरस होता है । प्रवृत्ति मे कोई असुन्दरता नही है, कोई अप्रियता नही है, किंतु जिसका परिणाम सुन्दर नही होता, वस्तुत वह प्रवृत्ति भी सुन्दर नही होती । अध्यात्म की भाषा बदल जाती है । अध्यात्मविद् उसे सुख नही कहते जो प्रवृत्तिकाल मे सुख-सा लगता है । वे उसे दु ख नही कहते जो प्रवृत्तिकाल मे दु ख-सा लगता है । वे उसे सुख कहते है जिसका परिणाम सुखद होता है । वे उसे दु ख कहते है जिसका परिणाम दु खद होता है । उनकी भाषा ही भिन्न होती है ।

जब अतर्दृष्टि जागती है तब प्रवृत्ति-केंद्रित दृष्टि नही रहती । वह तीन आयामो मे फैल जाती है । हेतु और परिणाम के बीच होती है प्रवृत्ति । हेतु और परिणाम के आधार पर प्रवृत्ति की सुन्दरता और असुन्दरता का निर्णय होता है ।

मैने अतर्दृष्टि के चार लक्षणो की चर्चा की है । यदि ये चार लक्षण विकसित होते है तो समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति मे अतर्दृष्टि का जागरण हो गया है, वह अतर्दृष्टि-सपन्न हो गया है । ये चार कसौटिया है । उसे अध्यात्म की पहली भूमि प्राप्त है और अब वह आगे की भूमिकाओ मे जा सकता है, गति कर सकता है ।

अतर्दृष्टि और लेश्या

जो व्यक्ति अतर्दृष्टि से सपन्न होता है उसकी लेश्या भी बदल जाती है । उसका आभा-मडल बदल जाता है । हम बहुत बार चाहते है कि मनुष्य का स्वभाव बदले । उसका चिड़चिड़ापन दूर हो, गुस्सा दूर हो, उसका अप्रिय व्यवहार बदल जाए । यह सब चाहते है । किंतु स्वभाव बदलने की बात अपवाद-स्वरूप ही प्राप्त होती है । जब तेजोलेश्या का विकास होता है तब स्वभाव मे स्वत परिवर्तन आ जाता है । उस समय उपदेश की आवश्यकता नही होती । अध्यात्मदृष्टि का विकास तेजोलेश्या से ही प्रारम्भ होता है ।

जब तेजोलेश्या प्रकट होती है तब व्यक्ति नम्रता से बर्ताव करता है । वह अचपल, अमायावी और अकुतूहली होता है । वह शान्त, समाधियुक्त, उपधान करने वाला, प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा और मुक्ति की गवेषणा करने वाला होता है ।

जब तक कृष्णलेश्या रहती है, अधकार के काले पुद्‌गल रहते है तब तक विचार बुरे बने रहते है । आकाश-मडल मे कृष्णलेश्या के परमाणु फैले हुए है । बुरे आदमियो द्वारा विसर्जित बुरे विचारो के परमाणु भी आकाशमडल मे व्याप्त है । सजातीय सजातीय को खीचता है । कृष्णलेश्या के परमाणु उन बुरे विचारो के परमाणुओ को खीचते है । आकाश-मडल मे अच्छे परमाणु भी भरे पड़े है, शुक्ललेश्या के परमाणु भी व्याप्त है, किंतु वे खीचे नही जा सकते । जब तक व्यक्ति मे कृष्णलेश्या के परमाणु कार्यरत है तब तक वे उन्ही विचारो के परमाणुओ को खीचते है जो सजातीय है । इस प्रकार बुरे-बुरे विचार आते रहेगे और बुरी आदतो का निर्माण होता रहेगा । जब विचार बुरे है तो आदते अच्छी कैसे हो सकेगी ?

जब तेजोलेश्या का प्रादुर्भाव होगा, लेश्या शुद्ध होगी, तब शुभ परमाणु

आने प्रारभ होगे, विचार अच्छे बनेगे, बुरे विचार नष्ट हो जाएगे और आदते स्वत परिवर्तित हो जाएगी, स्वभाव बदल जाएगा ।

तेजोलेश्या जागृति के साधन

तेजोलेश्या को जागृत करने के तीन साधन है–उपवास, दीर्घश्वास और आतापना । महावीर ने आतापना को बहुत महत्त्व दिया । वे स्वय इसका प्रयोग करते थे । यह तेजोलेश्या को विकसित करने का सशक्त माध्यम है । यह अध्यात्म की नीव का पहला पत्थर है । जब तक तेजोलेश्या का जागरण नही होगा, तब तक दूसरी शक्तियो का विकास नही होगा ।

इस सत्य को आज के वैज्ञानिको ने भी स्वीकार किया है । सूर्य की ऊर्जा जीवनी-शक्ति है । सूर्य-रश्मियो से प्राप्त शक्ति से अनेक कार्य सपन्न होते है । सूर्य का प्रकाश केवल मनुष्य, वनस्पति या अन्य प्राणियो को ही जीवनी-शक्ति नही देता, किंतु वह स्वय एक खाद्य है । इस सिद्धात पर पर्याप्त चर्चाए चली । उस समय यह सिद्धात मान्य नही हुआ । किंतु आज यह सिद्धात सम्मत हो चुका है । इसके आधार पर अनेक प्रयोग हुए है ।

एक बार चूहो को अपर्याप्त भोजन पर रखा गया । वे सूखने लगे । उनका शरीर क्षीण होने लगा । तब उनको धूप मे रखा गया । अब शरीर-पोषण के जिन तत्त्वो की कमी थी वह पूरी हो गई । चूहे पुन पुष्ट हो गए । फिर उनको ठड मे रखा गया और पूरा खाद्य दिया गया । वे उतने पुष्ट नही हुए जितने धूप मे हुए थे । इसका निष्कर्ष यह निकाला गया कि भोजन से जो तत्त्व प्राप्त होते है, धूप से उनसे अधिक तत्त्व मिलते है ।

भोजन पर प्रयोग किया गया । उसे दो घटा धूप मे रखने पर उसकी विद्युत् बढ़ गई ।

यह स्पष्ट है कि सूर्य से शक्ति प्राप्त होती है । तैजस शरीर को भी सूर्य का तैजस चाहिए, धूप की शक्ति चाहिए ।

बहुत खाने वालो को अजीर्ण होता है । वह दिन मे कम, परतु रात मे ज्यादा होता है । जब तक सूर्य का ताप है तब तक पाचन-शक्ति बलवान् रहती है । वह प्राप्त भोजन को पचाने मे लग जाती है । जब सूर्य का प्रकाश

मिलना बद हो जाता है तब तैजस शरीर भी काम करना बद कर देता है और तब अजीर्ण का अनुभव होने लगता है। रात्रि मे पाचन-यत्र के स्नायु सिकुड़ जाते है, पाचन की क्षमता कम हो जाती है। रात्रि-भोजन के निषेध का यह बहुत बड़ा वैज्ञानिक तथ्य है। सूर्य के प्रकाश मे पाचन-तत्र की सक्रियता बढ़ती है। इसीलिए कहा गया है कि सूर्य को उदित हुए दो घटे हो जाए तब खाया हुआ भोजन ठीक पचता है। इससे पूर्व कुछ भी नही खाना चाहिए। सूर्य के रहते-रहते भोजन करने वाला पाचन के दोषो से मुक्त रह सकता है।

सूर्य की शक्ति के सहारे तैजस शरीर भी सक्रिय रहता है। दिन मे जो सक्रियता रहती है वह रात मे नही रहती। हम सोचते है कि दिन मे काम करने मे थकान आ जाती है, इसलिए रात्रि मे सक्रियता नही रहती। थकान भी रात मे महसूस होती है। जितनी सुस्ती है वह अधकार मे ज्यादा उभरती है। सूर्य की शक्ति प्राप्त होते ही हमारे तैजस शरीर को शक्ति मिलती है। सारी क्षमताए जाग जाती है। तैजस शरीर की क्षमता का विकास होने पर तेजोलेश्या का विकास होता है। सुख का अनुभव भी तेजोलेश्या से होता है। जब कृष्णलेश्या के स्पदन होते है, दु ख का अनुभव होता है। जब तेजोलेश्या के स्पदन जागते है, तब सुख का अनुभव होता है।

तेजोलेश्या का परिणाम

अतर्दृष्टि के जागने पर एक बड़ा परिवर्तन होता है और वह यह कि मूढ़ अवस्था मे व्यक्ति केवल बाहरी निमित्तो से होने वाले सुखद स्पदनो का अनुभव करता है। उसे यह पता भी नही चलता कि भीतर भी सुखद स्पदन है। तेजोलेश्या जैसे ही विकसित होती है, भीतर के सुखद स्पदन जाग जाते है। उस समय वह सोचता है–अरे, यह क्या हुआ ? सुख का अनुभव कैसे हुआ ? बाहर का कोई निमित्त नही है, पदार्थ नही है, इतना सुख कहा से आया ? यह अतर् से प्रस्फुटित होने वाला सुख है। यह पदार्थ-निरपेक्ष सुख है। यह तैजस शरीर से प्रस्फुटित होने वाला सुख है। यह सुख इतना आनन्ददायी और मधुर होता है कि उसको छोड़ने का मन ही नही करता।

बाह्य पदार्थो से होने वाले सुख की अपेक्षा तेजोलेश्या से होने वाला सुख बहुत प्रचुर है। विद्युत् मे केवल गर्मी पैदा करने की ही शक्ति नही होती, उसमे ठडक की भी शक्ति होती है। तेजोलेश्या की ठडक भी इतनी सुखद होती है कि जिसकी कल्पना करना भी कठिन होता है।

तेजोलेश्या के प्रकट होने पर सुख का नया आयाम खुल जाता है। अतर्दृष्टि के जागने पर ध्यान की धारा भी बदल जाती है।

अंतर्दृष्टि (५)

मन की सिद्धि

अतज्योंति का एक रूप है–अनुप्रेक्षा, और दूसरा रूप है–ध्यान। घनीभूत अनुप्रेक्षा ध्यान बन जाती है। पानी जमता है, बर्फ बन जाता है। बूद की निरतरता धार बन जाती है। इसी प्रकार चेतना की निरतरता ही ध्यान है। चेतना का घनीभूत होना ही ध्यान है। पारद तरल है, अत्यत तरल है। वह भी घनीभूत होकर स्थिर हो जाता है। जो चचल होता है, वह स्थिर भी होता है। मन चचल है। कोई मन को पकड़ना चाहे तो पकड नही सकता। मनोवैज्ञानिक मानते है कि मन की चचलता को नही रोका जा सकता। किंतु जब तरल पारद को बाधा जा सकता है तो मन को क्यो नही बाधा जा सकता ? उसे घनीभूत क्यो नही किया जा सकता ? उसे क्यो नही पकड़ा जा सकता ? 'रसवच्चचल मन ' -मन रस (पारद) की तरह चचल है। पारद को सिद्ध करने पर अनेक उपलब्धिया होती है। मन को सिद्ध करने पर भी अनेक सिद्धिया प्राप्त होती है। पारद को सिद्ध करने पर ससार मे ऐसा क्या है जो सिद्ध नही होता ? इसी प्रकार मन को साध लेने पर ऐसा क्या है जो नही साधा जा सकता ? तरल पारद उपाय से सिद्ध होता है, वैसे ही चचल मन उपाय से सिद्ध होता है। उपायो का आलम्बन लेकर मन को सिद्ध करना ही ध्यान है। अनुप्रेक्षा करते-करते जब चचलता समाप्त हो जाती है, कषाय शात हो जाता है तब मन की गभीरता बढ़ती जाती है और एक बिदु पर मन

टिक जाता है। एकतानता, एकलयता, एकचित्तवृत्ति, एकज्ञानवृत्ति बनती है। तब ध्यान सधता है। ध्यान के लिए कुछ आलबन आवश्यक होते है। एक आलबन है शब्द का, एक है श्वास का, एक है रूप का। जब हमारी क्षमता का विकास होता है तब सभी आलबनो को छोड़कर मन निरालब हो जाता है। तब ध्यान की प्रगाढ़ता आ जाती है। निर्वातगृह मे स्थित दीपक की भाति चित्त लीन हो जाता है। निर्वातगृह मे रखा हुआ दीपक बुझता है किंतु मन इतना लीन हो जाता है कि सूर्य की भाति प्रकाश निरतर बना रहता है। उस समय शुक्लध्यान की स्थिति बन जाती है। किंतु प्रारभकाल मे आलबन जरूरी है।

सत्य की खोज ध्यान से

'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'–स्वय सत्य की खोज करो। सत्य की खोज के लिए ध्यान आवश्यक है। आप सोच सकते है कि आज का वैज्ञानिक यत्रो के माध्यम से सत्य की खोज करता है। यह सही है। किंतु इसका स्थान दोयम है। प्रथम स्थान है–धर्म-ध्यान का। वैज्ञानिक वस्तुओ के धर्मो का, पर्यायो का ध्यान करता है और ध्यान करते-करते उसमे कोई मत प्रगट होता है। फिर वह यत्रो का माध्यम लेकर उस मत की जाच करता है। वैज्ञानिक जब खोज मे खोया रहता है तब कभी-कभी ऐसा होता है कि उसे अकस्मात् कुछ सूझता है, अकस्मात् उसके ध्यान मे कुछ आता है और वह उसे एक हाइपोथिसिस मानकर आगे की खोज करता है, परीक्षण करता है और एक सचाई हाथ लग जाती है। ध्यान की अवस्था मे ही सचमुच सत्य उतरता है। ध्यान करने वाला सोता है तो सोते समय भी उसके मस्तिष्क मे सत्य उतर आता है, जागते समय भी उतर आता है और बैठे-बैठे भी उतर आता है। उस समय ऐसा लगता है कि मानो कोई शक्ति सत्य को सप्रेषित कर रही है। वह कह उठता है–यह रही सचाई, यह रही सचाई, यह रही सचाई। सारी सचाइया प्रकट होने लगती है। चितन चलता है और वह चितन लबे काल मे ध्यान बन जाता है।

कोऽह सोऽह

'कोऽहम्'–मै कौन हू–यह दर्शन जगत् का बहुत बड़ा प्रश्न है।

दार्शनिक इस प्रश्न को लेकर बैठता है। चितन चलता है। चितन करते-करते एक बिदु ऐसा आता है कि वह चितन ध्यान बन जाता है। उस ध्यान का अभ्यास करते-करते एक दिन इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है। कि 'सोऽहम्', जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा से आया है 'वह मैं हू'–सोऽहम्। इसी के आधार पर आत्मवाद का पहला प्रश्न समाहित हुआ है। जो ज्ञाता और द्रष्टा है वह मै हू। जो बाहर का वातावरण है, दिग्-काल आदि है, वह मै नही हू। जो बाहर का परिवेश है वह मै नही हू। जो शरीर है वह मै नही हू। जो वासनाए और कषाय है वह मै नही हू। जो सज्ञाए है वह मै नही हू। इन सबसे परे जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा है, अरूपी सत्ता है, शुद्ध चैतन्य है, वह मै हू–सोऽहम्।

ध्यान सत्य को खोजने की प्रक्रिया है। जितने भी सत्य खोजे गए है, वे सब ध्यान के माध्यम से ही खोजे गए है। चचल चित्त वाले व्यक्ति ने कभी किसी नए सत्य की खोज नही की। उसने तर्कों और विकल्पो के द्वारा सत्य को तोड़ा-मरोड़ा है। उसने विकल्पो का जाल बिछाया है, पर उसे कभी सत्य हाथ नही लगा। चचल चित्त वाला व्यक्ति कभी सत्य को नही खोज सकता। जिसे भी सत्य खोजना होता है उसे चित्त की स्थिरता मे, शातता मे प्रवेश करना ही पड़ेगा। 'ससार क्या है ?' इसे खोजते-खोजते उसका स्वरूप स्पष्ट रूप से सामने प्रकट हो जाता है। ईथर की खोज हुई। चितन के आधार पर, ध्यान के आधार पर, मन की स्थिरता के आधार पर यह सोचा गया कि पदार्थ की गति का कोई माध्यम होना चाहिए। जहा माध्यम नही होता, वैक्यूम होता है वहा भी गति होती है। शून्यता मे भी गति होती है तो उस गति का कोई-न-कोई माध्यम अवश्य होना चाहिए। इसी चितन से ईथर की खोज हुई।

अतीन्द्रिय सत्यो की खोज का आधार

इन्द्रियो से परे भी कुछ है–इस चितन ने अतीन्द्रिय सत्यो को खोज लिया। आज्ञा-विचय ध्यान बन गया। चाहे आत्मा को खोजे, चाहे इस प्रश्न पर ध्यान करे कि मै कौन हू ? चाहे इस प्रश्न पर ध्यान करे कि जगत् क्या है ?–इनमे कोई अन्तर नही है। आत्मा पर ध्यान करना कोई विशेष बात

नहीं है और पदार्थ पर ध्यान करना कोई साधारण बात नही है। एक परमाणु का ध्यान करना और आत्मा का ध्यान करना–दोनों मे कोई अन्तर नही है। ध्यान ध्यान है। एक परमाणु के ध्यान में जितनी शुद्धता है उतनी ही शुद्धता आत्मा के ध्यान मे है। जहा राग-द्वेष नही, जहा ज्ञाता ज्ञेय पर अपने ज्ञान का उपयोग करता है, वह उपयोग की धारा उतनी ही निर्मल है, उतनी ही प्रकाशवान है। कोई अन्तर नहीं सूर्य के प्रकाश मे, बिजली के प्रकाश मे या दीपक के प्रकाश मे। उसमें आप सोने को भी देख सकते है और ककड़ को भी देख सकते है। प्रकाश मे कोई अन्तर नही आएगा। प्रकाश प्रकाश है। उसका काम है वस्तु को प्रकाशित करना। ज्ञेय कैसा है ? क्या है ? इसमे कोई अन्तर नही आता। ज्ञाता का स्वभाव है ज्ञेय को जानना। वह ज्ञेय को जानता है, फिर चाहे वह आत्मा के पर्यायो को जाने, पदार्थ के पर्यायो को जाने, विकृतियो के पर्यायो को जाने, कषाय के पर्यायो को जाने, जानने मे कोई अन्तर नही आता। इसमे एक ही शर्त है कि जानने के साथ राग-द्वेष की तरगे नही होनी चाहिए। राग-द्वेष न हो तो कोई अन्तर नही आता। फिर चाहे व्यक्ति स्व' का ध्यान करे या 'पर' का ध्यान करे, चाहे धर्म का ध्यान करे या अधर्म का ध्यान करे। चाहे कषाय, उत्तेजना और वासना का ध्यान करे या शाति और मैत्री का ध्यान करे। यदि ध्यान की स्थिति मे कोई राग-द्वेष की तरगे नही है, कषाय की तरगे नही है तो ध्यान मे कोई अन्तर नही आएगा। ज्ञान का काम है सत्य की खोज करना। सत्य की खोज हो जाती है तो आत्मा का निर्मलभाव प्रकट होता है। यदि ध्यान के द्वारा अच्छी-अच्छी ही चीजे खोजी जाती तो बुरी चीजे सामने नही आती। यदि बुरी चीजे नही खोजी जाती तो अच्छी चीजो का पता ही नही चलता। बुरी चीजो पर ध्यान भी जरुरी है।

अपायविचय ध्यान

हम सोचते है कि आदमी विकार क्यो करता है ? क्रोध क्यो करता है ? मानसिक विकृतियो का दास क्यो बनता है ? आप ध्यान प्रारभ करे। सारे के सारे हेतु स्पष्ट हो जाएगे। आप जान जाएगे कि अदर क्रोध वेदनीय कर्म है इसलिए क्रोध आता है, भय वेदनीय कर्म है इसलिए भय आता है। इसी प्रकार प्रत्येक दोष का कारण विद्यमान है। सारे दोषो को खोजते चले

जाए, ध्यान करते चले जाए अपायविचय ध्यान हो जाएगा । आस्रवो का विचय करे । आस्रवो के कारण अनेक वृत्तिया जागती है । उनके कारणो को खोजे । वृत्तियो के हेतुओ को खोजे । यह खोज अपायविचय है । सत्य की यह बहुत बड़ी खोज है ।

सबके भीतर सब सज्ञाए है । यह दोष अपने द्वारा किया हुआ सचय है । वह भीतर पड़ा है । हम उसे क्यो छिपाए ? अपायविचय के द्वारा हम एक-एक कर उसे बाहर निकाल दे । किसी व्यक्ति मे भय की सज्ञा प्रबल होती है, किसी मे वासना की सज्ञा प्रबल होती है, किसी मे परिग्रह की सज्ञा प्रबल होती है और किसी मे क्रोध की, किसी मे मान की और किसी मे माया की वृत्ति प्रबल होती है । ध्यान करने वाले व्यक्ति को यह खोजना चाहिए कि उसमे कौन सी सज्ञा, कौन-सी वृत्ति प्रबल है ? वह उसका पहले उपचार करे, पहले उसकी चिकित्सा करे । यदि वह उस दोष के उपचार की बात नही सोचता और ऐसा अभिनय करता है कि वह तो वीतराग है, दोषो से रहित है तो यह एक भ्राति होगी । यह अभिनय सत्य की खोज की ओर नही ले जाएगा । वह असत्य का पालन करेगा और वह भीतर मे रहा हुआ असत्य इतना विस्फोट करेगा कि व्यक्ति और अधिक बुराइयो मे फसेगा । अपायविचय दोषो को दूर करने का महत्त्वपूर्ण उपाय है । हम अपायो का विचय करे, उनका विश्लेषण करे, उनका पृथक्करण करे, उनको देखे, उनकी प्रेक्षा करे । उनको समझे और उनके उपचार के उपायो को काम मे ले ।

विपाकविचय ध्यान

हम बहुत बार देखते है कि अनेक प्रकार की वृत्तिया उभरती है । कभी-कभी अनहोनी बात भी हो जाती है । व्यक्ति ऐसा बन जाता है, जिसकी वह स्वय या दूसरे भी कल्पना नही कर पाते । पचास वर्ष तक आदमी निष्कलक रहा । एक दिन की वृत्ति उभरी और वह कलक का भागी हो गया । वह स्वय समझ नही पाता कि ऐसा क्यो हुआ और दूसरे व्यक्ति भी समझ नही पाते कि उसने ऐसा क्यो किया । ऐसा होता है । यह भी निर्हेतुक नही है । हेतु सहजतया समझ मे नही आता । उसको समझने के लिए हम विपाक पर ध्यान करे और सोचे कि यह किस अपाय का विपाक है ? हमने कौन-सा बीज बोया था, जिसकी यह फलश्रुति है ? बीज को खोजते समय हम

फल पर भी ध्यान दे । यदि यह फल है, विपाक है तो इसका बीज यह होना चाहिए । बीज पर ध्यान देने का अर्थ है, विपाक पर ध्यान देना । विपाक बदला जा सकता है । हम कर्म की अवस्थाओ पर ध्यान दे । उदीरणा, सक्रमण, अपवर्तन, उद्वर्तन—इन सभी अवस्थाओ पर ध्यान करे । अपने पुरुषार्थ को देखे कि किस पुरुषार्थ के द्वारा इन विपाको को बदला जा सकता है । यह विपाक-विचय ध्यान है ।

सस्थानविचय ध्यान

सस्थानविचय ध्यान के सत्य को खोजने का उपाय है । हम आकारो, रूपो और वस्तु की प्रकृतियो को देखे । वस्तुओ की आकृति और प्रकृति की खोज करते जाए । अपने शरीर के भीतर की आकृति और प्रकृति को खोजे । शरीर की प्रेक्षा करे, पदार्थ की प्रेक्षा करे, किसी बिदु की प्रेक्षा करे । हमारा ध्यान पदार्थ के सस्थान पर केन्द्रित हो जाएगा और तब उसके विभिन्न पर्याय स्पष्ट होते जाएगे । यह सस्थानविचय ध्यान है ।

उपायविचय

महावीर ने इन चार विचयो का प्रतिपादन किया । हम शब्दो के आलबन से चले और इन चार विचयो पर ध्यान करे । इनमे बहुत कुछ समा जाता है । ये तो चार उदाहरण मात्र है । ऐसे अनेक उदाहरण दिए गए है । आचार्यो ने इस ओर विकास किया और इनकी सख्या बढ़ा दी । जब हेतुवाद प्रबल हुआ, तर्क का विकास हुआ, तब यह माना जाने लगा कि अतीन्द्रिय पदार्थ हम देख नही पा रहे है और इस स्थिति मे हम क्यो माने कि किसी ने अतीन्द्रिय सत्य का साक्षात्कार किया है ? हम तो उसी सत्य को स्वीकार करेगे जो बुद्धिगम्य है । जो बुद्धिगम्य नही है हम उसे स्वीकार नही करेगे । अतीन्द्रिय सत्य को हम स्वीकृति नही देगे । हम हेतुगम्य सत्य को मान सकते है, आज्ञागम्य या अहेतुगम्य सत्य को नही मान सकते । इस प्रकार आज्ञाविचय के साथ-साथ हेतुविचय का भी स्थान हो गया । तब कहा गया कि हेतुओ के द्वारा भी सत्य की खोज हो सकती है । यह लगड़ाती-सी प्रक्रिया है, फिर भी इसका प्रचलन हुआ । कोरा अपाय खोजने से क्या होगा ? इसके साथ एक विचय और जुड़ गया । वह था उपायविचय, उपायो की खोज । अपायो को उपाय

के द्वारा ही मिटाया जा सकता है। उपायो की खोज प्रारभ हुई। सभी अपायो के उपाय खोजे जाने लगे। रोग का निदान करने मात्र से ही कार्य निष्पन्न नहीं होता। रोग को मिटाने का उपाय भी करना पड़ता है। जितने रोग हैं, उतने ही उपाय है।

विरागविचय

विपाक को मिटाने के लिए विरागविचय की खोज हुई। विरागविचय अर्थात् पदार्थो के प्रति राग कैसे कम हो सकता है ? द्वेष कैसे कम हो सकता है ? उस विराग का विचय करो, विराग को खोजो।

भवविचय

सस्थानविचय से पर्यायो को जाना, सब कुछ किया। उसका भी कोई प्रतिकार होना चाहिए ? इस चितन मे भवविचय की खोज हुई। वह इसके साथ जुड़ गया। ससार मे कितना परिवर्तन होता है। आदमी मरता है, फिर जन्म लेता है। वह कभी किसी का पुत्र होता है, फिर पिता बन जाता है। वह कभी पति होता है तो कभी किसी की पत्नी बन जाता है। भाई का शत्रु बन जाता है और शत्रु का भाई बन जाता है। नाना पर्यायो की खोज की। भवविचय का विकास हो गया।

हजारो विचय

आज्ञाविचय के साथ मूल तत्त्वो की खोज प्रारभ हुई। आज के वैज्ञानिको के सामने भी यह प्रश्न है कि मूल कण क्या है ? वे अभी भी मूल कारण की खोज मे लगे हुए है। दार्शनिको के सामने भी यह प्रश्न रहा है कि ससार का मूल क्या है ? किसी ने कहा कि ससार का मूल चेतन है। किसी ने कहा कि ससार का मूल अचेतन द्रव्य है। अचेतन ही सारी सृष्टि का मूल है। किसी ने कहा कि चेतन से ही सारी सृष्टि का विकास हुआ है। इनके आधार पर दो विचय और जुड़ गए– जीव विचय और अजीव विचय। जीव का विचय करो, अजीव का विचय करो। चार विचय के दस विचय बन गए। इस प्रकार हजारो विचय हो सकते है। यह तो हम पर निर्भर है कि हम विचय-ध्यान को कितने प्रकार से विकसित कर सकते है। मूल बात यह है कि चित्त

को स्थिर बनाकर, वस्तु के एक पर्याय या धर्म पर स्थिर होकर गहरे मे जाकर उसका साक्षात् करना, उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना। इस प्रकार हम छिपे हुए सत्य को साक्षात् कर लेगे, समझ लेगे।

धर्मध्यान परिणाम और कसौटिया

धर्मध्यान सत्य के खोज की प्रक्रिया है। अतर्दृष्टि का विकास होने पर धर्मध्यान का क्रम चालू हो जाता है। मूढ़ व्यक्ति की एकाग्रता इस विषय पर होती है कि इष्ट वस्तु कैसे प्राप्त हो और अनिष्ट वस्तु कैसे छूटे ? प्रिय वस्तु की प्राप्ति कैसे हो और अप्रिय वस्तु कैसे छूटे ? मनोज्ञ पदार्थ का सयोग कैसे हो और अमनोज्ञ का वियोग कैसे हो ? अतर्दृष्टि के जागने पर व्यक्ति की वृत्ति, व्यक्ति का चित्त सत्य की खोज मे एकाग्र हो जाता है। उसके लिए सत्य की खोज मुख्य बन जाती है और वह निरतर यह सोचता रहता है तथा चित्त को इस पर स्थिर करता है कि सत्य क्या है ? यथार्थ क्या है ? इस पर स्थिर होने पर वह अनेक सचाइयो का साक्षात् कर लेता है।

धर्मध्यान वस्तु-सत्यो को खोजने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह कोई धर्म-अधर्म का ध्यान नही है, किंतु वस्तु-धर्मो का ध्यान है, वस्तु के पर्यायो का ध्यान है। इससे वस्तु के रहस्यो का उद्‌घाटन होता है। आज वैज्ञानिक जगत् मे जो बहुत सारी खोजे हो रही है, उन खोजो के पीछे धर्मध्यान ही काम कर रहा है। खोजना कोई बुरी बात नही है। खोज चाहे एक वैज्ञानिक करे या एक अध्यात्मवेत्ता करे, साधक करे, खोज खोज है। वह आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान नही है। शर्त इतनी ही है कि उस खोज के साथ राग-द्वेष जुड़ा हुआ न हो। दस सेकड मे सारे ससार को नष्ट करने वाले शस्त्र की खोज धर्मध्यान नही है, क्योकि उसके पीछे राग-द्वेष की शृखला है। किंतु जहा सत्य की खोज है वहा केवल तत्त्व को खोजना है कि परमाणु क्या है ? इलेक्ट्रॉन क्या है ? प्रोटॉन क्या है ? न्यूट्रॉन क्या है ? न्युक्लियस क्या है ?—यह सारी तत्त्व की खोज है। यह धर्मध्यान है। इस प्रकार मानसिक समस्याओ को खोजना, सकल्प-शक्ति के प्रभाव को खोजना— ये सारी खोजे वैज्ञानिक कर रहे है। जो खोजे अध्यात्म के साधक को करनी चाहिए थी वे सारी खोजे

एक वैज्ञानिक कर रहा है। अध्यात्म-साधक इस ओर सुप्त है, उदासीन है। किंतु वैज्ञानिक जागरूक है, प्रयत्नशील है। यह अध्यात्म जगत् को बहुत बड़ी चुनौती है। वैज्ञानिक नि स्पृह भाव से, राग-द्वेष-रहित भाव से यह कार्य कर रहा है। सत्य की खोज कोई भी करे, वह सत्य तक पहुचता है। हम क्यो नही माने कि सत्य की खोज करने वाला, चाहे फिर वह वैज्ञानिक हो या साधक, उस अश मे अध्यात्म का साथी है जिस अश मे वह राग-द्वेष से शून्य होकर तत्त्व की खोज मे लगा रहता है। इस मर्म को समझना चाहिए और साधको को सत्य की खोज मे लग जाना चाहिए।

हम कैसे जान सके कि व्यक्ति मे धर्मध्यान का अवतरण हुआ है या नही ? कसौटी क्या है ? प्राचीन साधको ने इसकी कसौटी भी बताई है। जब धर्मध्यान का अवतरण होता है तब व्यक्ति मे अर्थ की खोज स्पष्ट हो जाती है। कोई समस्या सामने आई, तत्त्व सामने आया और ऐसा लगे कि उसका सामाधान लिखा हुआ-सा है तो समझना चाहिए कि व्यक्ति मे धर्मध्यान घटित हो रहा है। वस्तु-सत्य की खोज करते-करते बहुत सारी बाते सहज ही प्रकट हो जाती है। एक बीज मिला और उसका सारा रहस्य प्राप्त हो जाएगा। एक वाक्य के आधार पर वह सारी बात समझ लेगा। पदानुसारिता, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि—वे सब धर्मध्यान करने वाले व्यक्ति के लक्षण है। धर्मध्यान की अनुभूति आतरिक अधिक है और बाहरी कम। यह आतरिक कसौटी है। व्यक्ति स्वय इसका अनुभव कर सकता है कि उसमे धर्मध्यान उतर रहा है। उसका शील बदल जाता है। उसका स्वभाव बदल जाता है। उसमे मैत्री की भावना जाग उठती है। उसमे अहिसा प्रस्फुटित होने लगती है। उसमे सत्य की प्रबल निष्ठा का उदय होता है। अचौर्य का विकास होता है। उसमे वासनाओ की विरति होती है। उसमे मध्यस्थभाव प्रकट होता है। उसकी मूर्च्छा घटती है। ये सब धर्मध्यान की आतरिक कसौटिया है।

धर्मध्यान की बाहरी कसौटिया भी है। इससे शरीर की निश्चलता सधती है। बैठते ही शरीर निश्चल हो जाए तो समझना चाहिए कि धर्मध्यान उतर रहा है। जब हाथ, पैर, वाणी आदि का असयम समाप्त हो जाता है तब मानना चाहिए कि धर्मध्यान का अवतरण हुआ है। ये दो बाहरी लक्षण है।

तीसरा लक्षण है—श्वास की मदता । श्वास तेज है तो समझ लेना चाहिए कि धर्मध्यान मे प्रवेश नही हुआ । श्वास मद है तो धर्मध्यान घटित हो रहा है । यह कसौटी जैन आचार्यो की ही नही है, हठयोग की भी वही कसौटी है । श्वास इतना मद हो जाता है कि पता ही नही चलता कि वह चल रहा है । इस प्रकार श्वास की मदता, वृत्तियो की स्थिरता, व्यवहार मे उत्तेजित नही होना—ये सब कसौटिया है । सामान्य लोग साधक का यही अकन करते है कि उसका व्यवहार कैसा है ? मगर साधक का व्यवहार क्रोधपूर्ण और छलनापूर्ण है तो उसमे धर्मध्यान घटित नही हुआ है । इस बात को भी समझना जरूरी है । ध्यान करने वाले की वृत्तिया शात और व्यवहार अनुत्तेजित होना ही चाहिए ।

धर्मध्यान और लेश्या

धर्मध्यान शुद्ध लेश्याओ के आलबन से होता है । तैजस, पद्म और शुक्ल—ये शुद्ध लेश्याए है । ये जितनी होती है, उतना ही धर्मध्यान होता है । इन लेश्याओ के अभाव मे रागद्वेष आ जाता है । तब धर्मध्यान धर्मध्यान नही रहता । तैजस लेश्या का काम है—आनन्द का अनुभव कराना, सुखासिका । इतनी सुखासिका कि पौद्गलिक जगत् मे उसकी कोई तुलना नही है । एक वर्ष तक सम्यक् प्रकार से तेजोलेश्या की साधना करने वाला सर्वार्थसिद्ध के देवो के सुखो का अतिक्रमण कर देता है । पद्मलेश्या से शाति प्रकट होती है । मन की इतनी शाति, कषायो की इतनी शाति कि उसकी कोई सीमा नही रहती । शुक्ललेश्या से वीतरागता, कषायो की निर्मलता, मन की निर्मलता, चित्त की शुद्धि प्रकट होती है ।

जो व्यक्ति आनदित रहता है, निरतर आनन्द का अनुभव करता है तो समझ लेना चाहिए कि धर्मध्यान जीवन मे उतरा है । जीवन यदि शाति से ओतप्रोत हो तो मानना चाहिए कि धर्मध्यान जीवन मे व्याप्त है । चित्त की निर्मलता हो, कोई प्रवचना हो, ठगाई न हो, आगे कुछ पीछे कुछ—ऐसा बर्ताव न हो तो धर्मध्यान का अवतरण समझ लेना चाहिए ।

समत्व

समत्व का जागरण

जैसे-जैसे ध्यान की क्षमता विकसित होती है, चित्त की स्थिरता जैसे-जैसे बढ़ती है, वैसे-वैसे मन की क्षमता बढ़ती जाती है। मन चैतन्य और शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। चैतन्य का अखड सूर्य हमारे भीतर विद्यमान है। अनन्त शक्ति का स्रोत हमारे भीतर है। बाहर उतनी ही शक्ति आती है, जितना माध्यम उसे प्राप्त होता है। कोई भी व्यक्ति भार उतना ही उठा पाता है, जितनी उसमे क्षमता होती है। बैलगाड़ी जितना भार वहन करती है, जलपोत उससे हजारो गुना भार वहन कर सकता है। जलपोत जितना भार वहन करता है, नौका उतना भार नही उठा सकती। जितनी-जितनी क्षमता, उतना ही भार-वहन। चचल मन थोड़ा भार ही उठा सकता है, थोड़ा प्रकाश ही दे सकता है–उसमे इतनी ही क्षमता है। जब मन स्थिर होता है, चचलता समाप्त होती है, ध्यान की क्षमता बढ़ती है, तब मन मे शक्ति को वहन करने की क्षमता का विकास होता है और ज्ञान की ज्योति को प्रकट करने की क्षमता भी बढ़ जाती है। विकसित मन हमारे सामने हजारों सभावनाए प्रकट कर देता है। जब ध्यान की क्षमता बढ़ती है तब मन मे विशेष प्रकार के चैतन्य का जागरण होता है। वह है–समत्व। समत्व की प्रज्ञा जागृत होती है। शरीर भिन्न है, आत्मा भिन्न है, शरीर जड़ है, आत्मा

चेतन है–जब यह भेदज्ञान पुष्ट होता है तब एक बिंदु ऐसा आता है जिससे आगे का विकास प्रारभ हो जाता है। वह है समत्व की प्रज्ञा। यह अध्यात्म-विकास की दूसरी भूमिका है। इसका विकास प्रारभ हो जाता है। इस मोड़ से जीवन का नया अध्याय शुरू हो जाता है। इसमें हेय को जानने की ही नहीं, किंतु हेय को छोड़ने की भी क्षमता आ जाती है।

पर्यावरण विज्ञान और सतुलन

जब समत्व जागता है, जब मन समत्व में प्रतिष्ठित होता है, तब सतुलन की प्राप्ति होती है। सतुलन का अर्थ है–अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है–सतुलन। अध्यात्म-जगत् मे सतुलन पर महत्त्वपूर्ण खोजे हो चुकी है। विज्ञान ने अब इस पर खोज प्रारभ कर दी है। विज्ञान की एक शाखा है–इकोलॉजी (Ecology)। इसका अर्थ है–पर्यावरण का विज्ञान। वैज्ञानिको ने इस बात पर ध्यान दिया कि प्रकृति का यदि कोई भी अश अस्त-व्यस्त रहता है तो प्रकृति का सारा चक्र ही अस्त-व्यस्त हो जाता है। क्योंकि प्रकृति का प्रत्येक अश, प्रत्येक अवयव उसका महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। वह महत्त्वपूर्ण इकाई है। वह टूटता है तो समूचा चक्का ही बेकाम हो जाता है।

पर्यावरण विज्ञान का नया आयाम

पहले के जमाने मे मनुष्य पर ही ध्यान था और यह माना जाता था कि मनुष्य ही सब कुछ है। फिर दूसरे प्राणियो पर ध्यान गया कि मनुष्य के लिए पशु उपयोगी है। पशुओ का मूल्याकन किया गया। किंतु इस 'इक़ोलॉजी' ने एक नया आयाम खोल दिया। यह बात मान्य हो गई कि प्रकृति का छोटा-मोटा–प्रत्येक अवयव उपयोगी है, अनिवार्य है। अभी-अभी पर्यावरण-विशेषज्ञो ने आकड़े प्रस्तुत करते हुए कहा कि आज वनस्पति की बीस हजार उपजातिया उपलब्ध है। यदि उनकी सुरक्षा नही की गई तो बहुत बड़ी निधिया समाप्त हो जाएगी। आज तक यह जाना ही नही गया कि किस वनस्पति मे क्या विशेषता है ? ऐसी वनस्पतिया है जिनमे कैसर जैसे असाध्य रोग को मिटाने की क्षमता है। ऐसी वनस्पतिया है जो मनुष्य के शरीर को सतुलित रखती हैं, रक्तचाप को सतुलित रखती है। यदि ये वनस्पतिया नष्ट

हो गई तो मनुष्य बहुत बड़े लाभ से वचित रह जाएगा । सतुलन परम आवश्यक है । एक जगल कटता है तो वैज्ञानिक चितित हो उठते है, कि केवल जगल ही नही कटता उसके साथ-साथ वर्षा की कमी हो जाती है, रेगिस्तान बढ़ जाता है, अनाज की कमी हो जाती है, न जाने और कितनो पर असर होता है । एक के साथ अनेक जुड़े हुए है ।

समता ही पर्यावरण का विज्ञान

इस पर्यावरण के विज्ञान को अध्यात्म के साधको ने बहुत पहले ही खोज लिया था । उन्होने समत्व के सिद्धात का प्रतिपादन करते हुए कहा—'किसी को मत मारो, चोट मत पहुचाओ, परिताप मत करो, क्लेश मत दो । सबको समान समझो । सबके साथ समत्व का व्यवहार करो ।' इतना ही पर्याप्त नही है । समत्व का विकास होता है तो यह बात प्राप्त हो जाती है कि विषमता पैदा मत करो । उन्होने कहा—अजीव का भी सयम करो । जैसे जीव वैसे अजीव । एक तिनके को भी मत तोडो । उन्होने एक सूक्ष्म बात यही कही कि जीव को मत मारो कितु जिसमे जीव पैदा करने की क्षमता है, जिसमे उत्पादक शक्ति है, उसे भी नष्ट मत करो । यह समत्व और सतुलन का सिद्धान जगत् का सार्वभौम नियम है । इसे नही तोडने की बात बहुत ही सूक्ष्म है । मनुष्य पर्यावरण के चक्र का एक अश है । यदि किसी भी अवयव पर कोई प्रभाव होता है तो वह स्वय पर भी होता है और दूसरो पर भी होता है । क्या मकान की एक-एक ईट को तोड़ने वाला समूचे मकान को नष्ट नही कर देता ? क्या नीव को क्षति पहुचाने वाला समूचे मकान को ही भूमिसात् नही कर देता ? समत्व का सिद्धात है कि सतुलन रखो । कही भी विषमता पैदा मत करो । न चेतन जगत् मे विषमता पैदा करो और न अचेतन मे विषमता पैदा करो । तुम्हारे कारण कही भी विषमता पैदा न हो । पूर्ण समत्व मे रहो, सतुलन रखो ।

तटस्थता का अभ्यास

समत्व का दूसरा अर्थ है—तटस्थता । तुम तटस्थ रहो । एक ओर मत झुको । इस ससार मे कभी कुछ अप्रिय घटित होता है और कभी कुछ प्रिय

घटित होता है । कभी वह घटित हेता है जो हम चाहते है और कभी वह घटित होता है जो हम नही चाहते । चाहा भी घटित होता है, अनचाहा भी घटित होता है । अब यदि इसके साथ हमारे मन का चक्का भी घूमता रहेगा तो इतनी उलझने बढ़ जाएगी कि अन्तत आत्महत्या के सिवाय कोई विकल्प नही बचेगा । एक आदमी का जब मनचाहा होता है तब वह अत्यत प्रसन्न रहता है । जब वह देखता है कि विश्व के इस क्षितिज पर अनचाहा भी घटित हो रहा है तब उसका मन उलझनो से भर जाता है । इन उलझनो से पार पाने के लिए वह आत्महत्या को कारगर मान बैठता है ।

एक सुन्दरी है । फिल्म अभिनेत्री या नर्तकी है । वह अभी यौवन की दहलीज पर है । राष्ट्र या विश्व मे उसका सम्मान होता है । वह विश्व-प्रसिद्ध हो जाती है । उसकी अवस्था वदलती है । वह जीवन को पार कर वृद्धावस्था की ओर वढ़ती है । अब उसे लगता है कि उसे कम सम्मान मिल रहा है । उसका आकर्षण कम हो गया है । जो प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि प्राप्त थी, वह धीरे-धीरे कम हो रही है । लोगो मे जो प्रियता थी वह कम हो रही है, तब वह सुन्दरी सतुलन खो बैठती है और अपने जीवन को समाप्त करने पर तुल जाती है । इस प्रकार अनेक महिलाओ ने आत्महत्या कर अपनी जीवन-लीला समाप्त की है । ऐसा क्यो होता है ? यह इसलिए नही होता कि पहले जो सम्मान प्राप्त था वह आज नही है, जो प्रियता या आकर्षण था, वह आज नही है । किंतु यह इसलिए घटित होता है कि मन के साथ एक रागात्मक भाव जुड़ा था, उसकी अब पूर्ति नही हो पाती । ऐसी स्थिति मे मन को इतनी गहरी ठेस लगती है कि व्यक्ति तिलमिला उठता है, वह अपने आपको सभाल नही पाता है ।

एक व्यक्ति के पास करोड़ो की सपत्ति है । क्या उसके लिए इतनी सपत्ति उपयोगी है ? नही । वह उस सपत्ति को भूमि मे गाढ़कर रखेगा । क्या उसका कोई उपयोग है ? फिर भी मन मे एक रागात्मक भाव जुड़ा हुआ है कि यह मेरा है । यह मेरी सपत्ति है । यह भाव उसे सतोष दे रहा है । मानसिक सतोष पलता है, मानसिक तृप्ति मिलती है । जिस दिन सपत्ति चली जाती है या उस पर रहा हुआ स्वामित्व छूट जाता है तब आदमी अस्त-व्यस्त, आकुल-

व्याकुल हो जाता है। स्वामित्व छूटने से क्या अतर पड़ा ? कोई भी अंतर नही पड़ा। वह संपत्ति तो वही पड़ी है वैसे ही वैसी है। केवल स्वामी बदला है। किंतु मन का वह धागा टूट गया। अब वह एकात मे या जंगल मे जाकर रहने की सोचता है। देश को छोड़ देने की सोचता है या शरीर को छोड़ देने की बात सोचता है। यह सब इसलिए होता है कि व्यक्ति मे तटस्थता नही है। जब व्यक्ति तटस्थ नही होता तब वह प्रत्येक परिस्थिति के साथ अपने आपको जोड़ देता है। वह मन को परिस्थिति से अलग नही रख पाता। जब समत्व की अवस्था जागती है तब तटस्थता भी जाग जाती है। जो व्यक्ति तटस्थ होता है वह लाभ-अलाभ जो भी घटित होता है उसे जान लेता है, उसे देख लेता है, पर उसमे लिप्त नही होता। अपने को उसके साथ नही जोड़ता। जान लेता है भोगता नही। जानने वाला न दु खी होता है और न सुखी होता है। भोगने वाला दु खी भी होता है और सुखी भी होता है। दोनो भार उसे उठाने पड़ते है। समत्व की दूसरी अवस्था है– तटस्थता।

समत्व और सयम

समत्व की तीसरी अवस्था है--सयम। समत्व के साथ सयम अपने आप आता है। सयम की शक्ति जागती है तब व्यक्ति को यह नही लगता कि जो पदार्थ है वे सब उसके भोग के लिए है। ईश्वरवादी कहते है कि यदि हम इन पदार्थो का भोग नही करे तो ईश्वर ने इन्हे बनाया ही क्यो ? ऐसा लगता है कि ईश्वर ने सारी सृष्टि ही उसके लिए निर्मित की है। वे स्वय इस तर्क पर नही टिकते कि यदि दूसरे उनका भोग करे तो उन्हे दु ख क्यो होता है ? वे यह क्यो नही सोचते कि ईश्वर ने उन्हे भी दूसरे के भोग के लिए बनाया है। उन्हे यह तर्क अच्छा नही लगता। मासाहारी व्यक्ति से कहा जाए कि मास खाना मानसिक दृष्टि से हितकर नही है। उससे चेतना के विकास मे अवरोध उत्पन्न होता है। वे प्रतितर्क देते है कि मास यदि खाने की वस्तु नही है तो ईश्वर ने इसे बनाया ही क्यो ?

किंतु जिस व्यक्ति मे समत्व का विकास होता है उसमे सहज ही सयम का विकास हो जाता है। उसमे पदार्थ के प्रति मात्र उपयोगिता की बुद्धि रहती है, अनिवार्यता की बुद्धि रहती है। वह मानता है कि जीवन को टिकाए रखना

है तो उसे जो चाहिए, अनिवार्य रूप से चाहिए, उतना मात्र ही पर्याप्त है। शेष की कोई अनिवार्यता नही है। उसका संयम सध जाता है। उसमे सतुलन, तटस्थता और सयम–ये तीनो अवस्थाए प्रकट होती है।

समत्व की प्रज्ञा और बाधाएं

आप ऐसा न माने कि समत्व की चेतना जागते ही सब कुछ एक साथ घटित हो जाता है। बहुत बड़े-बड़े अवरोध आते है। कषायो को उपशात या क्षीण करते-करते समत्व की चेतना जागती है। कितु सारे कषाय उपशात या क्षीण नही हो जाते। उन अवशिष्ट कषायो से अवरोध उत्पन्न होते है और क्षीण कषायो से समत्व जागता है। अवशिष्ट कषाय अपना प्रभाव डालते है। वे समत्व की प्रज्ञा मे अवरोध उत्पन्न करने है। कोई भी साधक समत्व की प्रज्ञा को प्राप्त कर ले, इसका यह अर्थ होता है कि वह समत्व की प्रज्ञा मे स्थित हो गया है या स्थित हो ही जाता है, ऐसा नही होता। एक बार अतर्दृष्टि के जाग जाने पर, समत्व की प्रज्ञा के जाग जाने पर भी साधक को खतरो से सावधान रहना चाहिए। जिस धर्मध्यान से समत्व की यह प्रज्ञा जागृत हुई, उसे और अधिक विकसित नही किया गया, जिस लेश्या से समत्व की यह प्रज्ञा जागी उसे निरतर आगे नही बढ़ाया गया तो खतरा है कि भीतर के ही शत्रु इतना भारी आक्रमण कर दे कि साधक को पीछे लौटने के लिए विवश होना पड़े। इसलिए निरतर अप्रमाद, जागरूकता, अतर्जागरूकता की स्थिति बनी रहनी चाहिए। आगे से आगे ध्यान का मार्ग विकसित रहे, शुभ लेश्याए विकसित होती रहे–यह अपेक्षा है।

समता की निष्पत्ति

जब समत्व की प्रज्ञा जागती है तब अध्यात्म की दूसरी भूमिका मे हमारी गति प्रारभ हो जाती है। उस समय हम कैसे जाने कि इस व्यक्ति मे समत्व जागा है या नही ? सामायिक हुआ है या नही ? इसे जानने की व्यावहारिक कसौटी भी है। वह यह है कि उस व्यक्ति मे अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध,अमान, अमाया, अलोभ, अकलह आदि का अचतरण होता है। सामायिक का अर्थ है–समस्त सावद्य प्रवृत्तियो का विसर्जन, समस्त

पापो का अपनयन। समत्व जागता है तो सावद्य योग अपने आप व्यक्त हो जाते है। जो समत्व के लक्षण है, वे प्रकट हो जाते है। इन लक्षणो से जान लिया जाता है कि व्यक्ति मे समत्व उतरा है। जैसे रोग का अपना एक लक्षण होता है वैसे ही आरोग्य का भी अपना एक लक्षण होता है। विषमप्रज्ञा का एक लक्षण होता है तो समत्वप्रज्ञा का भी एक लक्षण होता है। समत्वप्रज्ञा के जागने पर अहिसा आदि का विकास अवश्य होगा। हम यह न माने कि प्रथम चरण मे ही व्यक्ति अहिसा के शिखर पर पहुच जाता है। कितु अहिसा की यात्रा जीवन मे शुरू हो जाती है। सत्य का विकास शुरू हो जाता है। वह व्यक्ति वासनाओ से लिप्त नही होता। वासनाओ का सयम उसमे प्रकट होने लग जाता है। वह व्यक्ति पदार्थ मे लिप्त नही होता। अकिचनता की ओर उसकी गति होने लग जाती है। ईर्ष्या अपवाद, उद्वेग, विषाद, घृणा—जितने मानसिक पाप है, दोष है, वे सारे दूर हट जाते है। उनके स्थान पर दूसरे गुण प्रकट हो जाते है।

समत्व की प्रज्ञा जाग जाने का दूसरा लक्षण है कि मन समाहित हो जाता है। जिस व्यक्ति को लगे कि उसका मन उलझनो से भरा है, मन समाहित नही है, तो समझ लेना चाहिए कि समत्व की प्रज्ञा जागी नही है। समत्व की प्रज्ञा जाग जाए और मानसिक उलझनो का भार भी बना रहे, यह सभव नही लगता। जब मन की समस्याए सुलझने लगती है, अपने आप समाधान प्रस्तुत होता है तब मानना चाहिए कि समत्व का प्रभाव अभिव्यक्त हो रहा है। ऐसा व्यक्ति 'समाहितात्मा' कहलाता है। उसका मन पूर्ण समाहित होता है। समस्याए आती है, पर वे मन को उलझा नही पाती। वे हट जाती है, दूर चली जाती है।

समत्व का जागरण धर्मध्यान की स्थिरता

अध्यात्म की दृष्टि से मूलभूत तथ्य है—सामायिक—समत्व का जागरण। जब सामायिक स्थिर और दृढ़ होता है, तब पाप की समस्त धाराए पश्चिमाभिमुख हो जाती है। समत्व के जागने पर लेश्याओ मे भी परिवर्तन हो जाता है। लेश्याए प्रकृष्ट, प्रकृष्टतर और प्रकृष्टतम होती चली जाती है। पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द बढ़ने लगता है। मन की निर्मलता,मन की शाति और

मानसिक आनन्द—ये प्राप्त होते है ।

अतर्दृष्टि की अवस्था मे धर्मध्यान का जो विकास होता है उससे और अधिक विकास इस अवस्था मे हो जाता है । अध्यात्म विकास की पहली भूमिका में अपायविचय या विपाकविचय का चितन मात्र था । इस अवस्था मे अपायो के त्याग की स्थिति प्राप्त हो जाती है । धर्मध्यान इतना स्थिर हो जाता है कि त्याग की भावना दृढ़ हो जाती है । इसमे अपायो को छोड़ने, आसवो का कम करने, सवर का विकास करने, निर्जरा की अधिकता यानी दोषो को क्षीण करने की क्षमता बढ़ जाती है और धर्मध्यान बहुत शक्तिशाली हो जाता है । इसके साथ-साथ शुक्लध्यान की अनेक सभावनाए बढ़ जाती है । शुक्लध्यान का मार्ग प्रशस्त हो जाता है । अतीन्द्रिय बोध स्पष्ट होने लगता है, विपाको के प्रति दृष्टि निर्मल बनती है, विराग मे प्रकर्ष आता है और पदार्थ के प्रति धारणा बदल जाती है ।

समता का चरम-बिन्दु वीतरागता

अतर्दृष्टि के जागने पर आत्मा का बोध तो होता है किंतु यह कोई चरम विकास नही है । समत्व की दृष्टि मे जो विकास होगा वह भी कोई चरम विकास नही है । इस विकास को आप इतना-सा जाने कि एक बड़ा हॉल है कितु उसमे खिडकिया नही है । वह अधेरे मे व्याप्त रहेगा । हमारी चेतना, हमारी शक्ति मोह की मूर्च्छा से, कषायो से इतनी आच्छन्न थी कि बाहर प्रकट नही हो पा रही थी । केवल मूर्च्छा की तरगे ही तरगे व्याप्त थी । हमने मूर्च्छा की सघन भीत मे कुछ खिड़किया निकाल दी, चेतना का प्रकाश बाहर आने लगा । अब मूर्च्छा मे सघन अधकार करने की क्षमता नही रही । विकास प्रारभ हो गया । विकास की पूर्णता तब होगी जब मोह की सारी दीवारे ढह जाएगी, समूचे पर्दे हट जाएगे, समूचा आवरण टूट जाएगा ।

अतर्दृष्टि से सपन्न व्यक्ति भी अप्रिय आचरण कर लेता है । समत्व की प्रज्ञा जाग जाने पर भी व्यक्ति अवाछनीय आचरण कर लेता है । यह तब तक करता है जब तक कि प्रमाद उस पर हावी होता है । कितु महावीर ने कहा—समत्वदर्शी पाप नही करता । इसकी सगति कैसे होगी ? इसका भी एक रहस्य है । या तो यह बात उस भूमिका पर कही गयी है जहा समत्व

अपने चरम शिखर पर पहुच जाता है। समत्व का चरम शिखर है—वीतरागता। समत्व का प्रारभ होता है सतुलन से और चरम परिणति होती है वीतराग मे। एक है उपत्यका और एक है अधित्यका। उपत्यका तलहटी है और अधित्यका पर्वत का ऊपरी भाग है। जैसे हिमालय की तलहटी है तो उसका शिखर भी है। तलहटी भी हिमालय है तो शिखर भी हिमालय है। तलहटी हिमालय नही है, केवल शिखर ही हिमालय है—ऐसा नही कहा जा सकता। समत्व की तलहटी भी समत्व है और समत्व का शिखर भी समत्व है। समत्व की तलहटी है सतुलन और समत्व का शिखर है वीतरागता। दोनो समत्व है। महावीर ने जो कहा कि समत्वदर्शी कोई पाप नही करता, इसका आशय है कि जो साधक समत्व की चोटी वीतरागता पर पहुच चुका है, वह कोई पाप नही करता। जो उस शिखर पर चढने की तैयारी कर रहा है, जो अभी तलहटी पर ही खड़ा है वह पाप नही करता, इसका इतना-सा तात्पर्य हो सकता है कि उस साधक के मन मे पाप न करने का सकल्प जाग जाता है। उस सकल्प के साथ उसकी यात्रा प्रारभ होती है। वह आरोहण प्रारभ करता है। आरोहण करते-करते एक दिन वह समस्त बाधाओ को चीर कर समत्व के शिखर पर पहुच जाता है। वीतरागी बन जाता है। वहा पहुचकर फिर वह कभी पाप नही करता। सारी पापमय प्रवृत्तिया छूट जाती है।

समत्व की प्रज्ञा जाग जाने पर हमे एक बोध मिलता है कि हमने ध्यान और धारणा के द्वारा समत्व की प्रज्ञा को जगा लिया है। अनुप्रेक्षा, भावना और ध्यान से अतर्दृष्टि के साथ-साथ समत्व की प्राप्ति भी कर ली, किंतु शिखर अभी भी दूर है। हम शिखर के अभिमुख अवश्य हुए है, पर शिखर पर पहुचे नही है। यात्रा चालू है। आरोहण चालू है। मार्ग लबा है। हमे निरतर चलना है। इसलिए ध्यान की धारा निरतर चलती रहे, यह अभ्यास सतत चालू रहे और तब तक चालू रहे जब तक कि हम समत्व के शिखर पर न पहुच जाए और वहा पहुचकर हम विजय की ध्वजा न फहरा दे।

अप्रमाद, वीतराग और केवली

अप्रमाद

साधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—जागरूकता। जागना बहुत महत्त्व की बात है। मनुष्य रात को सोता है और दिन मे जागता है। सोने का भी एक समय है और जागने का भी एक समय है। पर अज्ञानी कभी नही जागता, वह सदा सोता है। ज्ञानी कभी नही सोता, वह सदा जागता है।

यह सतत जागृति की अवस्था ही अप्रमाद है। चैतन्य की धारा अविच्छिन्न रहती है, उसमे राग-द्वेष की धारा नही मिलती तब अप्रमाद घटित होता है। इस स्थिति को बहुत सावधानी, दृढ़सकल्प और अध्यवसाय से बनाए रखना होता है। पूर्वार्जित कर्म का उदय, कषाय का दबाव और सज्ञा का प्रभाव—ये सब मिलकर चैतन्य के प्रति होने वाली सतत अनुभूति का क्रम तोड़ देते है। साधक फिर प्रमाद मे आ जाता है। यह प्रमाद और अप्रमाद का क्रम लम्बी अवधि तक चलता रहता है।

अप्रमाद अवस्था मे हिसा, असत्य आदि सभी दोष उपशान्त हो जाते है। जागरूकता के कारण आतरिक बधन शिथिल होने लग जाते है। यह समत्व और वीतरागता के मध्य का सेतु है। यह जैसे-जैसे स्थिरपद होता है, वैसे-वैसे समत्व सुस्थिर और वीतराग भाव विकसित होता है।

वीतरागता

राग-द्वेष-युक्त क्षण अशुद्ध चैतन्य के अनुभव का क्षण है। राग-द्वेष-

मुक्त क्षण शुद्ध चैतन्य के अनुभव का क्षण है। शुद्ध चैतन्य के अनुभव द्वारा ही चैतन्य को शुद्ध (आवरण-मुक्त) किया जा सकता है। अध्यात्म के साधक का साध्य होता है चैतन्य को निरावण करना। उसका साधन है जानना-देखना। साधना-काल मे जो साध्य होता है, वह सिद्धिकाल मे स्वभाव बन जाता है। इस तथ्य को इस भाषा मे भी प्रस्तुत किया जा सकता है–उपादान को ही साधन बनाकर उसे उपलब्ध किया जा सकता है। आत्मा का स्वभाव है चैतन्य। उसमे न राग है और न द्वेष है। वह न राग से रक्त होता है और द्वेष से द्विष्ट। उसमे मोह नही है। वह मोह से मूढ़ नही होता। कर्म के सयोग से उसमे राग, द्वेष और मोह–ये सब पलते है। मनुष्य का चैतन्य राग, द्वेष और मोह के साथ ही सक्रिय रहता है। जागरूकता का विकास होने पर जैसे-जैसे राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव बढ़ता है, वैसे-वैसे कषाय के बधन शिथिल होते है और वीतराग भाव प्रकट होता है।

शुद्ध चैतन्य का अनुभव ही वीतरागता है। यह वीतरागता सापेक्ष है। अवीतरागता के अनुभव के पश्चात् शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है। इसलिए उस अवस्था को वीतराग अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था मे कषाय का अश भी विपाक मे नही रहता। वह सर्वथा क्षीण हो जाता है अथवा सर्वथा उपशात। जिसका कषाय उपशात होता है वह पुन अवीतराग हो जाता है। जिसका कषाय क्षीण हो जाता है, वह वीतराग अवस्था का अनुभव कर केवली हो जाता है।

कैवल्य आत्मोपलब्धि

केवली अवस्था मे ज्ञान और दर्शन निरावरण होने के कारण अनत हो जाते है, मोह क्षीण होने पर वीतरागता अनन्त हो जाती है और अन्तराय के क्षीण होने पर शक्ति अनन्त हो जाती है। इस अनन्त-चतुष्टयी का अनुभव ही आत्मा के स्वभाव का अनुभव है। यही आत्मा-साक्षात्कार या आत्मोपलब्धि है।

केवली अवशिष्ट आयु का भोग कर मुक्त हो जाता है। वह मृत्यु के बधन से मुक्त हो अमृत बन जाता है। उसके स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर भी छूट जाते है। वह सर्वथा अमूर्तिक हो आत्मा के सहज-स्वरूप मे स्थिर हो जाता है।

३

पद्धति और उपलब्धि

- अन्तर्यात्रा
- तपोयोग
- प्रेक्षा ध्यान
- भावना योग
- भावधारा और आभामडल
- चैतन्य-केन्द्र
- तेजोलेश्या   कुडलिनी
- आतरिक उपलब्धिया

अन्तर्यात्रा

अध्यात्म है अन्तर्यात्रा

अध्यात्म-साधना का अर्थ है—भीतर की यात्रा। हम बाहर से बहुत परिचित है। हमारे जीवन की पूरी-की-पूरी यात्रा ही बाहर की ओर हो रही है। हमारी शिक्षा भी हमे बाहर की ओर ले जाती है और हमारे अनुसधान के सारे प्रयत्न भी हमे बाहर ही भटकाते है। भीतर की यात्रा करने का कोई अवकाश ही नही है। व्यक्ति बाहर मे इतना व्यस्त है कि उसे कभी यह सोचने का मौका ही नही मिलता कि उसे भीतर की यात्रा भी करनी चाहिए। सचाई यह है कि बाहर मे जितना है उससे बहुत अधिक है भीतर मे। जो भीतर की यात्रा कर लेता है उसे बाहर का सत्य असत्य जैसा प्रतिभाषित होता है। किंतु भीतर की यात्रा करने का अवसर ही जब जीवन मे नही आता तब यह जानने को ही नही मिलता कि भीतर मे कोई सार या भीतर मे कुछ ऐसा है जिसे देखना चाहिए, जानना चाहिए, अनुभव करना चाहिए। इसलिए अध्यात्म-साधना जरूरी है। इसके माध्यम से व्यक्ति अपने अन्तराल तक पहुच सकता है। इसलिए शिक्षा और शोध के साथ अध्यात्म-साधना बहुत जरूरी है। जैसे दिन-भर का थका हुआ पक्षी अपने घोसले मे आकर विश्राम करता है वैसे ही बहिर्मुखी प्रवृत्तियो से त्रस्त या थका हुआ आदमी कही विश्राम ले सके, कही शाति का अनुभव कर सके, वह स्थान हो सकता है केवल

अध्यात्म, केवल भीतर का प्रवेश। जो बाहर से थका हुआ प्रतीत होता है उसे बाहर की कोई भी वस्तु विश्राम नही दे सकती, शाति नही दे सकती। दो दिशाए है–एक बाहर की, और एक भीतर की। दोनो एक-दूसरे की प्रतिपक्षी दिशाए है।

अध्यात्म का सोपान अनुभव

आज अध्यात्म को एक नया आयाम मिल रहा है। कुछ ऐसा समय आया था जिसमे अध्यात्म की विस्मृति हो गई थी। धर्म को अबौद्धिक मान लिया गया था। लोगो ने समझ लिया था कि धर्म उस व्यक्ति को करना चाहिए जो अन्य दूसरी दिशाओ मे सक्षम न हो। या धर्म के पास वे लोग जाए जिनकी बौद्धिक क्षमता विकसित न हो। इसका अर्थ यह हुआ कि बौद्धिक आदमी के पास धर्म नही या उसके लिए धर्म उपयुक्त नही। बुद्धि धर्म के लिए एक दीवार बन गई। यह सही है कि धर्म या अध्यात्म तक पहुचने के लिए अनुभव ही सहायक हो सकता है, बुद्धि नही। बुद्धि बाधा देगी, क्योकि उसके पास अनुभव नही है। जो बात अनुभव के द्वारा जानी जाती है या जिस भूमिका तक अनुभव हमे पहुचा सकता है वहा तक बुद्धि हमे नही पहुचा सकती। यहा बुद्धि का स्तर नीचे रह जाता है। जब तक स्वय हम इसका अनुभव नही कर लेते तब तक बुद्धि भी सहयोग नही करेगी। वह हमे सहारा तो देगी पर अनुभव के बाद। जब हम अनुभव कर लेते है तब बुद्धि भी हमे आगे बढ़ने के लिए सहयोग करती है, किंतु जब तक हमारा कोई अनुभव नही है तब तक बुद्धि तर्क प्रस्तुत करेगी, एक दीवार खड़ी करेगी, उसमे सहयोगी नही बनेगी। अपेक्षा है अनुभव की।

अध्यात्म की समूची साधना ही अनुभव की साधना है। इसलिए मौन और अकर्म की बात कही जाती है। शरीर का कार्य भी मत करो। शिथिलीकरण कर, शरीर का विसर्जन कर, कायोत्सर्ग से शरीर को त्यागो। शरीर की प्रवृत्तिया मत करो। मन की प्रवृत्ति मत करो। अकर्म, अबात और अचितन– ये सारी उल्टी दिशाए है। बुद्धि का काम है–खूब बोलो, सोचो, प्रयत्न करो, चितन करो। बुद्धि मनुष्य को कर्म की ओर ले जाती है। अध्यात्म मनुष्य को अकर्म की ओर ले जाता है। यहा अकर्म ही है, कही भी क्रिया

नही है । बुद्धि को यह पसंद नहीं है । बुद्धि इसका समर्थन भी नही करती, किंतु जब अनुभव इसकी सत्यता को प्रमाणित कर देता है, तब बुद्धि भी सक्रिय हो जाती है । वहा बुद्धि के द्वारा प्रस्तुत तर्क भी व्यर्थ हो जाता है, क्योकि अनुभव सबसे बड़ा प्रमाण है । तर्कशास्त्र कहता है–'प्रत्यक्ष सर्वज्येष्ठ प्रमाणम्'–प्रत्यक्ष सर्वज्येष्ठ प्रमाण है । प्रत्यक्ष के द्वारा जो बात जान ली जाती है, फिर उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है ।

अनुभव प्रत्यक्ष तर्क परोक्ष

अनुभव प्रत्यक्ष है । जब हमने अनुभव के द्वारा जान लिया तब खडन करने के लिए हमारे पास कोई तर्क सक्षम नही होता । साधना का समूचा मार्ग, भीतर मे प्रवेश का मार्ग प्रत्यक्ष का मार्ग है, अनुभव का मार्ग है । हम भीतर मे चेतना के अन्तस्तल मे प्रवेश करके उसकी गहराइयो मे जाकर कुछ साक्षात् करते है, अनुभव करते है तो अनुभव के बाद कोई भी तर्क उसे खडित नही कर सकता । जिस बात को मै प्रत्यक्ष जान रहा हू उसके लिए मुझे कोई तर्क दे तो मै कभी स्वीकार नही करूगा और मै यह कहूगा कि तुम तर्क के द्वारा यह समझाने का प्रयत्न कर रहे हो किन्तु मे इसे प्रत्यक्ष कर चुका हू । प्रत्यक्ष के सामने तुम्हारा तर्क व्यर्थ है, किसी काम का नही है । एक आदमी मिश्री खा रहा है । वह मीठी है, इसका वह अनुभव कर रहा है । अब कोई दूसरा आदमी तर्क से सिद्ध करना चाहे कि नही, यह मीठी नही है, कड़वी है । चाहे कितना ही बड़ा तार्किक हो किंतु जो प्रत्यक्षत अनुभव कर रहा है तो क्या उसका स्वाद, उसका अनुभव तर्क के द्वारा बाधित हो सकता है ? नही हो सकता । जिसने कभी मिश्री का स्वाद न चखा हो और उसे कोई समझाना चाहे कि यह नमकीन होती है या कड़वी होती है, तब तर्क की प्रबलता के आधार पर वह मान भी सकता है क्योकि उसने कभी उसका अनुभव नही किया है । किंतु प्रत्यक्षत अनुभव करने वाला इसे कभी नही मानेगा चाहे दुनिया का बड़े से बड़ा तार्किक भी क्यो न हो । साधना का समूचा मार्ग अनुभव का मार्ग है, यह अनुभव की दिशा है । इस दिशा मे जितने आयाम आए है वे सारे-के-सारे अनुभव के ही आयाम है, दूसरा आयाम नही है । जब हम चेतना की समाधि मे जाते हैं तो हमारे पास अनुभव के सिवाय कुछ बचता

नही है । तर्क हमेशा ही व्यवधान होता है । जहा परोक्ष होता है, वहा तर्क होता है । प्रत्यक्ष मे तर्क के लिए कोई अवकाश नही है । जहा दूरी है, सूक्ष्म है, जहा बीच मे कोई माध्यम है वहा तर्क के लिए अवकाश हो सकता है । पर जहा कोई व्यवधान नही, दूरी नही, वहा कोई तर्क नही होता । जब हम अन्तर्यात्रा मे ध्यान की स्थिति मे होते हैं, हमारा भीतर मे प्रवेश होता है, वहा हम चैतन्य के साथ सर्वथा एकीभूत हो जाते है । वहा चैतन्य के प्रति हमारी कोई दूरी नही होती । उस स्थिति मे तर्क को कोई स्थान नही होता । केवल अनुभव, केवल साक्षात् और प्रत्यक्षीकरण । इस प्रत्यक्षीकरण की समूची प्रक्रिया मे कोई तर्क नही होता । इसमे केवल अनुभव ही काम करता है । हम व्यक्ति-व्यक्ति के अनुभव को जागृत करे और उसे परोक्ष के मार्ग से हटाकर प्रत्यक्ष की अनुभूति मे ले जाए । जब तक दूसरा रहेगा तब तक तर्क के लिए अवकाश रहेगा । जब कर्ता अलग और कर्म अलग है तो दूरी है । एक व्यक्ति मै हू और एक मेरे लिए दूसरा है । जहा दूसरा है वहा तर्क और सदेह होगा, विवाद होगा, सघर्ष होगा । सब कुछ होगा । किंतु जहा 'मै' और 'दूसरे' का कोई अन्तर नही रहता, जब मेरा स्वय का अपना अनुभव ही मेरे लिए सब कुछ बन जाता है, वहा कोई तर्क नही, कोई सदेह नही, कोई विवाद नही, कुछ भी नही । जितना मैने जाना, जितना मैने अनुभव किया, वह मेरा अपना है, पराया कुछ भी नही है । जहा पराया नही है वहा कोई सघर्ष नही है, टकराहट नही है ।

उपदेश परोक्षद्रष्टा के लिए

अन्तर्यात्रा का सबसे पहला कार्य है कि व्यक्ति को अनुभव के मार्ग मे प्रस्थित कर देना, उसे अनुभव करा देना । जब तक अनुभव की दिशा उद्घाटित नही होती तब तक कोई भी अध्यात्म की साधना नही चल सकती । साधना का पहला क्रम है—साधना के जिज्ञासु को, छोटा या बड़ा, कोई-न-कोई अनुभव करा देना चाहिए जिससे प्रेरणा जागृत हो कि यह मार्ग मेरे लिए श्रेयस्कर है । यतिभोज ने लिखा है—आचार्य का कर्तव्य है कि वे शिष्य को कोई-न-कोई अनुभव करा दे, जिससे कि वह उस दिशा मे गति कर सके । जो अनुभव की प्रक्रिया है, उससे जो गुजर जाता है, उसे फिर उपदेश की

जरूरत नहीं होती ।

'उद्देसो पासगस्स नत्थि'—यह साधना का सूत्र है । साक्षात् द्रष्टा के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती । वह परोक्षद्रष्टा के लिए होता है ।

अमृत का झरना

साधना करने वाले को चाहिए कि सबसे पहले वह अपने शरीर-यत्र को समझे । जो शरीर को नही समझता, उसका साधना-पथ प्रशस्त नही होता । शरीर बहुत बड़ा यत्र है । विश्व की बड़ी-से-बड़ी फैक्टरी भी इसके समक्ष छोटी पड़ती है । इसकी सरचना जटिल है मस्तिष्क की सरचना उससे भी जटिल है । इसके अरबो-खरबो प्रकोष्ठ है—हजारो-लाखो-करोड़ो स्मृतियो के प्रकोष्ठ, हजारो-लाखो आवेशो के प्रकोष्ठ । उनकी स्वचालित व्यवस्था है । सारी क्रियाए अपने आप होती है । इन सबको समझे बिना साधना का मार्ग प्रशस्त नही होता ।

आज के शरीर-विज्ञान ने हमारे शरीर मे अनेक ग्रन्थियो का प्रतिपादन किया है । आज से हजारो वर्ष पहले योग के आचार्यो ने जिन चक्रो का प्रतिपादन किया था उन्ही स्थानो का वर्तमान शरीर-विज्ञान प्रतिपादन करता है । दोनो मे बहुत साम्य है । आज का विज्ञान जिसे 'सिक्रिशन ऑफ ग्लैण्ड्स' कहता है उसे ही योग के आचार्य चक्रो का विकास तथा अमृत का झरना कहते है । कितने निकट की कल्पना है ।

प्राण-चिकित्सा

चिकित्सा की अनेक पद्धतिया प्रचलित है । वे सब बाहर की है । एक चिकित्सा-पद्धति भीतर की है । वह है मन के द्वारा चिकित्सा । आत्मा के द्वारा चिकित्सा हो सकती है, सकल्प के द्वारा चिकित्सा हो सकती है । हम अनेक रोगो को इस चिकित्सा के माध्यम से मिटा सकते है । आज मनुष्य चाहता है कि सुबह बीमार हो तो शाम को स्वस्थ हो जाए । ऐसी चिकित्सा वह चाहता है । उसमे धैर्य नही है । वह महीनो तक दवाई लेना नही चाहता । मानसिक सकल्प वर्तमान मे लाभ का अनुभव कराता है । जिस क्षण संकल्प बलवान होता है उसी क्षण से परिवर्तन होने लग जाता है । यह है प्राणिक

प्रक्रिया, प्राण की चिकित्सा, या मन की चिकित्सा, या आत्मा की चिकित्सा। क्योंकि प्राण और मन दोनो ही साथ-साथ चलते हैं। जहा प्राण जाता है, वहा मन जाता है और जहा मन जाता है वहा प्राण जाता है। हम अन्त·प्रेक्षा की, अर्न्तमन की बात करते है। अध्यात्म का अर्थ ही है भीतर मे देखना, भीतर को जानना, भीतर की यात्रा करना। भीतर देखने का या भीतर यात्रा करने का अर्थ ही है—प्राण को भीतर ले जाना। प्राण को भीतर ले जाने का अर्थ है कि जो ऊर्जा बाहर की ओर प्रवाहित हो रही थी, उसे मोड़कर भीतर ले जाना, हमारे शरीर की विद्युत् को समूचे शरीर मे ले जाना। जहा-जहा मन गया वहा-वहा प्राण गया और जहा-जहा प्राण गया वहा-वहा ऊर्जा गई। जहा ऊर्जा का प्रवाह होता है वहा कोई भी दोष टिक नही सकता, रोग रह नही सकता। प्राण या ऊर्जा की कमी के कारण ही रोग उत्पन्न होते है, बीमारिया होती हैं। उनका सतुलन होते ही दोष नष्ट हो जाते है। यही मन चिकित्सा का आधार है। मन के भीतर ले जाने का प्रयोजन ही है प्राण और ऊर्जा को भीतर प्रवाहित करना। भीतर जाने का अर्थ ही है—ऊर्जा का विकास, ऊर्जा का सूमचे शरीर मे इतना अवगाहन कि जहा कमी हो वह पूरी हो सके।

कायोत्सर्ग शिथिलीकरण की क्रिया है। इसका इतना ही अर्थ नही है कि शरीर को शिथिल कर देना, शात कर देना। बल्कि हम ऐसी तैयारी कर ले जिससे कि ऊर्जा का प्रवाह अजस्र हो जाए। इतना प्रवाह हो जाए कि कही कोई अवरोध न रहे, कोई तनाव न रहे। तनाव के कारण ही तो अवरोध होता है, गतिरोध होता है। शिथिल होने से अवरोध की गाठ खुल जाए और सारा प्रवाह अबाध गति से चलता रहे। वर्तमान मे प्रचलित 'फीलिग' की जो चिकित्सा-पद्धति है वह सारी-की-सारी मानसिक चिकित्सा की पद्धति है, जिसका पश्चिम मे बहुत विकास हुआ है।

निवृत्ति प्रवृत्ति

गुप्तिया तीन है—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। कायगुप्ति का अर्थ है—शरीर को निवृत्त करना और प्रवृत्त करना। प्रवृत्त करने मे आसन, प्राणायाम, श्वास की क्रियाए, बैठने की सारी मुद्राए आ जाती हैं। शरीर

को निवृत्त करने का अर्थ है–शरीर की सारी क्रियाओ से मुक्त कर हल्का बना देना मानो कि शरीर है ही नही। यह अनुभव होने लगे कि ध्यान करते-करते शरीर खो गया है। एक साधक ध्यान कर रहा था। ध्यान करते-करते वह चिल्लाने लगा–'मेरा शरीर खो गया है। आओ, जल्दी आओ, ढूंढो। ढूढकर लाओ।' उसे यह भान ही नही रहा कि मेरा शरीर है या नहीं। एक बिन्दु है निवृत्ति का और एक बिन्दु है प्रवृत्ति का। योग दोनो विषयों मे है।

अध्यात्म की ज्योति कर्मकाड की राख

साधना के अनेक प्रकार है। सबसे बड़ी साधना है–अध्यात्म की, भीतर मे जाने की। बाहरी यात्रा से व्यक्ति को हटाकर भीतर की यात्रा करा सके, यह साधना सबसे बड़ी साधना है। चेतना का सपर्क जितना इसके माध्यम से होता है, उतना किसी के माध्यम से नही होता। हम जिस सत्य को इस माध्यम से जान सकते है, अन्य किसी माध्यम से नही। हम दूसरो के साथ एकात्मकता या मैत्री इस माध्यम से सहज ही स्थापित कर सकते है। दूसरे माध्यम से इतने कार्यकारी नही होते।

यदि हम भीतर की यात्रा नही करते है तो अध्यात्म के स्थान पर कर्मकाड विकसित होते है। इसका अर्थ होता है कि अध्यात्म की ज्योति कर्मकाड की राख से ढक जाती है–प्रकाश नीचे दब जाता है, कालिमा ऊपर आ जाती है। होना यह चाहिए की प्रकाश प्रकट रहे, ज्योति ऊपर रहे। इस ज्योति को अनावृत करने के लिए, आग राख के ढेर के नीचे न दबे, इसके लिए भीतर का प्रवेश जरूरी है, अध्यात्म की यात्रा जरूरी है।

तपोयोग

सवरयोग तपोयोग

अध्यात्म-साधना के लिए चार तत्त्वो को जानना आवश्यक है । एक वह जिससे दु ख का सृजन होता है । दूसरा वह जो दु ख होता है । तीसरा वह जिससे दु ख का निरोध होता है । चौथा वह जिससे दु ख क्षीण होता है । जिससे दु ख का सृजन होता है वह आस्रव है, जो पहले अध्याय मे बताया जा चुका है । जो दु ख होता है वह कर्म है, जो दूसरे अध्याय मे बताया जा चुका है । जिससे दु ख का निरोध होता है वह सवर है । जिससे दु ख क्षीण होता है वह तप है । सवरयोग और तपोयोग–ये दो आध्यात्मिक विकास के उपाय है । सवर के द्वारा नए दु ख का सृजन रुक जाता है और तप के द्वारा पुराने दु ख क्षीण हो जाते है । नए के निरोध और पुराने के क्षय की स्थिति मे वह चैतन्य उपलब्ध होता है जो दु ख से अतीत है ।

अन्तर्दृष्टि का विकास होने पर मिथ्यादृष्टि से होने वाले दु ख अर्जित नही होते । समत्व का विकास होने पर आकाक्षा से होने वाले दु ख अर्जित नही होते । अप्रमाद का विकास होने पर चैतन्य की सुषुप्ति से होने वाले दु ख अर्जित नही होते । वीतरागता का विकास होने पर दु ख का मूल ही क्षीण हो जाता है । इस अवस्था मे शुद्ध चेतना का विकास होता है, मन विलीन

हो जाता है । इनकी साधना के तत्त्व पहले बताए जा चुके है । तप से दु ख का निरोध भी होता है और क्षय भी होता है ।

तपोयोग की साधना के सूत्र

तपोयोग की साधना का प्रथम सूत्र है–आहारशुद्धि । अधिक आहार से मल सचित होते है । जिसके शरीर मे मल सचित होते है उसका नाड़ी-सस्थान शुद्ध नही रहता और मन भी निर्मल नही रहता । ज्ञान और क्रिया–इन दोनो कीअभिव्यक्ति का माध्यम नाड़ी-सस्थान है । मलो के सचित होने पर ज्ञान और क्रिया–दोनो मे अवरोध उत्पन्न हो जाता है । नाड़ी-सस्थान के कार्य मे कोई अवरोध न हो,मन की निर्मलता बनी रहे, अपानवायु दूषित न हो–इन तथ्यो को ध्यान मे रखकर साधक अपने आहार का चुनाव करता है । इन्ही तथ्यो के आधार पर उपवास, मित भोजन और रस-परित्याग (गरिष्ठ भोजन का वर्जन) सुझाए गए है ।

तपोयोग की साधना का दूसरा सूत्र है–आसन या कायक्लेश । शरीरगत चैतन्य-केन्द्रो को जागृत करने के लिए आसनो का अत्यन्त महत्त्व है । आसन करने वालो के लिए चैतन्य-केन्द्रो का ज्ञान होना जरूरी है । उस ज्ञान के आधार पर ही अनुकूल आसनो का चयन किया जा सकता है । ध्यान के लिए भी विशेष आसानो का चयन किया जाता है ।[1]

कायक्लेश का प्रयोजन शरीर को सताना नही, किन्तु साधना के उद्देश्यो की पूर्ति के लिए शरीर की क्षमता को विकसित करना है । सूर्य का आताप लेना कष्टपूर्ण कार्य हो सकता है, किन्तु उसका प्रयोजन है–तैजस शक्ति को बढ़ाना । सर्दी और गर्मी सहन करने के पीछे भी एक विशेष दृष्टिकोण है ।

तपोयोग की साधना का तीसरा सूत्र है–इन्द्रिय-सयम । इसकी साधना तीन प्रकार से की जा सकती है–

१ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श–इन इन्द्रिय-विषयो का परित्याग करे ।

---

१ आसनो की विशेष जानकारी के लिए देखे– आचार्यश्री तुलसी कृत 'मनोनुशासनम् ।'

२ इन इन्द्रिय-विषयो का उपयोग करते हुए इनमे राग-द्वेष नही रखें। केवल शब्द सुने किन्तु उसमे राग-द्वेष न करे। इससे श्रोत्रेन्द्रिय का सयम सधता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियो के सयम भी साधे जा सकते है।

३ इन्द्रिय-विषयो के साथ जुड़ने वाले मन को भीतर ले जाए जिससे बाहर के विषयो का आकर्षण सहज ही समाप्त हो जाए।

तपोयोग की साधना का चौथा सूत्र है–ध्यान। ज्ञान और ध्यान एक ही चित्त की दो अवस्थाए है। चित की चचल अवस्था को ज्ञान और स्थिर अवस्था को ध्यान कहा जाता है। जो चित्त भिन्न-भिन्न आलबनो पर स्फुरित होता है, वह उसकी ज्ञानात्मक अवस्था है। इसकी तुलना सूर्य की बिखरी हुई रश्मियो से की जा सकती है। जो चित्त एक ही आलबन पर स्थिर, निरुद्ध या केन्द्रित हो जाता है, वह उसकी ध्यानात्मक अवस्था है। इसकी तुलना सूर्य की केन्द्रित रश्मियो से की जा सकती है।

चित्त के तीन रूप

चचल चित्त के तीन रूप बनते है–चिन्तन, अनुप्रेक्षा और भावना।

चितन

इसमे विषय की सीमा नही होती। इसमे मुक्तभाव से विचार चलता है, विकल्प आते है और नए-नए विषय उभरते है।

अनुप्रेक्षा

यह एक विषय पर होने वाला अनुचितन है। इसमे निश्चित विषय पर ही विकल्प किए जाते है। कोई अनित्य की अनुप्रेक्षा करता है तब वह पदार्थ के अनित्य स्वभाव का ही चितन करता है। इसमे मुक्त चितन होता है, विषय नही बदलता, विकल्प बदलते रहते है।

भावना

इसमे एक विषयक विकल्प की पुनरावृत्ति होती है। अनुप्रेक्षा मे विकल्प दोहराया नही जाता। इसमे वह दोहराया जाता है। 'आत्मा भिन्न है और

शरीर भिन्न है'—इस प्रकार का विकल्प 'अन्यत्व अनुप्रेक्षा' है। यह विकल्प बार-बार दोहराया जाता है तब वह भावना बन जाता है। जप इसी का एक प्रकार है। भावना मे चितन और कर्म—दोनो की पुनरावृत्तिया की जाती हैं।

चितन की अपेक्षा अनुप्रेक्षा की सीमा छोटी है। उसकी अपेक्षा इसमे चचलता की मात्रा कम हो जाती है। अनुप्रेक्षा की अपेक्षा भावना मे चित्त की चचलता और अधिक कम हो जाती है। फिर भी इनमे एकाग्रता का वह बिदु नही बनता जिसे ध्यान कहा जा सके। अनुप्रेक्षा और भावना करते-करते चित्त निरुद्ध हो जाता है, उस आलबन पर एकाग्र हो जाता है तब ये ध्यान के रूप मे बदल जाती है।

चितन—अनेक विषय, अनेक विकल्प।

अनुप्रेक्षा—एक विषय, अनेक विकल्प।

भावना—एक विषय, एक विकल्प की पुनरावृत्ति।

ध्यान—एक विषय, एक विकल्प, अपुनरावृत्त अथवा निर्विकल्प।

प्रेक्षा ध्यान

प्रेक्षा का अर्थ है–गहराई मे उतरकर देखना। जानना और देखना चेतना का लक्षण है। आवृत्त चेतना मे जानने और देखने की क्षमता क्षीण हो जाती है। उस क्षमता को विकसित करने का सूत्र है–जानो और देखो। आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो, स्थूल मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखो, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। देखना आत्मा का मूल तत्त्व है, इसलिए इस ध्यान-पद्धति का नाम 'प्रेक्षा ध्यान' है। यह विचय ध्यान के अभ्यास का ही एक प्रकार है। इसे 'दर्शन' या 'विपश्यना' भी कहा जाता है।

देखना साधक का सबसे बड़ा सूत्र है। जब हम देखते है तब सोचते नही है और जब हम सोचते है तब देखते नही है। विचारो का जो सिलसिला चलता है उसे रोकने का सबसे पहला और सबसे अतिम साधन है–देखना। कल्पना के चक्रव्यूह को तोड़ने का सशक्त उपाय है–देखना। आप स्थिर होकर अनिमेष चक्षु से किसी वस्तु को देखे, विचार समाप्त हो जाएगे, विकल्प शून्य हो जाएगे। आप स्थिर होकर अपने भीतर देखे–अपने विचारो को देखे या शरीर के प्रकपनो को देखे तो आप पाएगे कि विचार स्थगित है और विकल्प शून्य है। भीतर की गहराइयो को देखते-देखते सूक्ष्म शरीर को देखने लगेगे। जो भीतरी सत्य को देख लेता है, उसमे सत्य को देखने की क्षमता अपने आप आ जाती है।

देखना वह है जहा केवल चैतन्य सक्रिय होता है। जहा प्रियता और

अप्रियता का भाव आ जाए, राग और द्वेष उभर जाए वहा देखना गौण हो जाता है। यही बात जानने पर लागू होती है।

हम पहले देखते है, फिर जानते है। इसे इस भाषा मे स्पष्ट किया जा सकता है कि हम जैसे-जैसे देखते जाते है, वैसे-वैसे जानते चले जाते है। मन से देखने को 'पश्यत्ता' कहा गया है। इन्द्रिय-सवेदन से शून्य चैतन्य का उपयोग देखना और जानना है।

मध्यस्थ या तटस्थता प्रेक्षा का ही दूसरा रूप है। जो देखता है वह सम रहता है। वह प्रिय के प्रति राग-रजित नही होता और अप्रिय के प्रति द्वेषपूर्ण नही होता। वह प्रिय और अप्रिय दोनो की उपेक्षा करता है—दोनो को निकटता से देखता है। इसीलिए वह उनके प्रति सम, मध्यस्थ या तटस्थ रह सकता है। उपेक्षा या मध्यस्थता को प्रेक्षा से पृथक् नही किया जा सकता। 'जो इस महान् लोक की उपेक्षा करता है—उसे निकटता से देखता है, वह अप्रमत्त विहार कर सकता है।'

चक्षु दृश्य को देखता है, पर उसे न निर्मित करता है और न उसका फल-भोग करता है। वह अकारक और अवेदक है। इसी प्रकार चैतन्य भी अकारक और अवेदक है। ज्ञानी जब केवल जानता या देखता है तब न वह कर्मबध करता है और न विपाक मे आए हुए कर्म का वेदन करता है। जिसे केवल जानने या देखने का अभ्यास उपलब्ध हो जाता है वह व्याधि या अन्य आगन्तुक कष्ट को देख लेता है, जान लेता है पर उसके साथ तादात्म्य का अनुभव नही करता। इस वेदना की प्रेक्षा से कष्ट की अनुभूति ही कम नही होती किंतु कर्म के बध, सत्ता, उदय और निर्जरा को देखने की क्षमता भी विकसित हो जाती है।

समता

आत्मा सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है, इसलिए परोक्ष है। चैतन्य उसका गुण है। उसका कार्य है जानना और देखना। मन और शरीर के माध्यम से जानने और देखने की क्रिया होती है, इसलिए चैतन्य हमारे प्रत्यक्ष है। हम जानते है, देखते है, तब चैतन्य की क्रिया होती है। समग्र साधना का यही उद्देश्य है कि हम चैतन्य की स्वाभाविक क्रिया करे। केवल जाने और केवल देखे।

इस स्थिति मे अबाध आनन्द और अप्रतिहत शक्ति की धारा प्रवाहित रहती है, किंतु मोह के द्वारा हमारा दर्शन निरुद्ध और ज्ञान आवृत रहता है, इस लिए हम केवल जानने और केवल देखने की स्थिति मे नहीं रहते। हम प्राय. संवेदन की स्थिति मे होते है। केवल जानना ज्ञान है। प्रियता और अप्रियता के भाव से जानना सवेदन है। हम पदार्थ को या तो प्रियता की दृष्टि से देखते हैं या अप्रियता की दृष्टि से। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से नही देख पाते। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से देखना ही समता है। वह केवल जानने और देखने से सिद्ध होती है। यह भी कहा जा सकता है कि केवल जानना और देखना ही समता है। जिसे समता प्राप्त होती है वही ज्ञान होता है। जो ज्ञानी है उसी को समता प्राप्त होती है। ज्ञानी और साम्ययोगी—दोनो एकार्थक होते है।

हम इन्द्रियो के द्वारा देखते है, सुनते है, सूघते है, चलते है, स्पर्श का अनुभव करते है तथा मन के द्वारा सकल्प-विकल्प या विचार करते है। प्रिय लगने वाले इन्द्रिय-विषय और मनोभाव राग उत्पन्न करते है और अप्रिय लगने वाले इन्द्रिय-विषय और मनोभाव द्वेष उत्पन्न करते है। जो प्रिय और अप्रिय लगने वाले विषयो और मनोभावो के प्रति सम रहता है, उसके अन्त करण मे वे प्रियता और अप्रियता का भाव उत्पन्न नही करते। प्रिय और अप्रिय तथा राग और द्वेष से परे वही हो सकता है जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है। जो केवल ज्ञाता और द्रष्टा होता है वही वीतराग होता है।

जैसे-जैसे हमारा जानने और देखने का अभ्यास बढ़ता जाता है वैसे-वैसे इन्द्रिय-विषय और मनोभाव प्रियता और अप्रियता उत्पन्न करना बन्द कर देते है। फलत राग और द्वेष शात और क्षीण होने लगते है। हमारी जानने और देखने की शक्ति अधिक प्रस्फुटित हो जाती है। मन मे कोई सकल्प उठे उसे हम देखे। विचार का प्रवाह चल रहा हो, उसे हम देखे। इस देखने का अर्थ होता है कि हम अपने अस्तित्व को सकल्प से भिन्न देख लेते हैं। सकल्प दृश्य है और मैं द्रष्टा हू—इस भेद का स्पष्ट अनुभव हो जाता है। जब सकल्प के प्रवाह को देखते जाते हैं तब धीमे-धीमे उसका प्रवाह रुक जाता है। सकल्प के प्रवाह को देखते-देखते हमारी दर्शन की शक्ति इतनी

पटु हो जाती है कि हम दूसरो के सकल्प-प्रवाह को भी देखने लग जाते हैं।

हमारी आत्मा मे अखड चैतन्य है। उसमे जानने-देखने की असीम शक्ति है, फिर भी हम बहुत सीमित जानते-देखते हैं। इसका कारण यह है कि हमारा ज्ञान आवृत्त है, हमारा दर्शन आवृत है। इस आवरण की सृष्टि मोह ने की है। मोह को तथा राग और द्वेष को पोषण मिल रहा है, प्रियता और अप्रियता के मनोभाव से। यदि हम जानने-देखने की शक्ति का विकास चाहते है तो हमे सबसे पहले प्रियता और अप्रियता के मनोभावो को छोड़ना होगा। उन्हे छोड़ने का जानने और देखने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नही है। हमारे भीतर जानने और देखने की जो शक्ति बची हुई है, हमारा चैतन्य जितना अनावृत्त है उसका हम उपयोग करे। केवल जानने और देखने का जितना अभ्यास कर सके, करे। इससे प्रियता और अप्रियता के मनोभाव पर चोट होगी। उससे राग-द्वेष का चक्रव्यूह टूटेगा। उससे मोह की पकड़ कम होगी। फलस्वरूप ज्ञान और दर्शन का आवरण क्षीण होने लगेगा। इसलिए वीतराग साधना का आधार जानना और देखना ही हो सकता है। इसलिए इस सूत्र की रचना हुई है कि समूचे ज्ञान का सार सामायिक है—समता है।

श्वास-प्रेक्षा

श्वास और जीवन—दोनो एकार्थक जैसे है। जब तक जीवन तब तक श्वास और जब तक श्वास तब तक जीवन—यह कहा जा सकता है। शरीर और मन के साथ श्वास का गहरा सबध है। यह एक ऐसा सेतु है जिसके द्वारा नाड़ी-संस्थान, मन और प्राणशक्ति तक पहुचा जा सकता है। चैतन्य के द्वारा प्राणशक्ति सचालित होती है। प्राणशक्ति के द्वारा मन, नाड़ी-सस्थान और शरीर संचालित होता है। श्वास शरीर की ही एक क्रिया है। इसलिए कहा जा सकता है कि श्वास को देखने का अर्थ है—प्राणशक्ति के स्पदनो को देखना और उस चैतन्य शक्ति को देखना, जिसके द्वारा प्राणशक्ति स्पदित होती है।

श्वास दो प्रकार का होता है—सहज और प्रयत्नजनित। प्रयत्न के द्वारा श्वास को दीर्घ किया जा सकता है तथा किसी एक नथुने से लेकर दूसरे नथुने से निकाला जा सकता है।

इस प्रकार श्वास-प्रेक्षा के तीन रूप बन जाते हैं–

१ सहज श्वास-प्रेक्षा ।

२ दीर्घ श्वास-प्रेक्षा ।

३ समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा ।

श्वास-प्रेक्षा मानसिक एकाग्रता का बहुत महत्त्वपूर्ण आलबन है । दीर्घश्वास से रक्त को बल मिलता है, शक्ति-केन्द्र जागृत होते हैं, तैजस-शक्ति जागृत होती है, सुषुम्ना और नाड़ी-सस्थान प्रभावित होता है । इससे भावनाओ पर नियत्रण करने मे सहायता मिलती है । समवृत्ति श्वास से नाड़ी-सस्थान का शोधन होता है, ज्ञान शक्ति विकसित होती है और अतीन्द्रिय ज्ञान की सभावनाओं का द्वार खुलता है ।

अनिमेष-प्रेक्षा

मस्तिष्क के पीछे बाए भाग की ओर छोटे-छोटे कोषो का एक समुदाय है, वे कोष बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । उनमे अतीन्द्रियज्ञान की क्षमता है । वे सुप्त रहते है, इसलिए उनकी क्षमता का उपयोग नही होता । यदि वे जागृत किए जा सके, सक्रिय बनाए जा सकें तो अनेक अज्ञात तथ्य ज्ञात हो सकते है । उन्हे जागृत करने का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है 'अनिमेष प्रेक्षा' ।

नासाग्र, किसी बिदु या भित्ति को अपलक दृष्टि से देखते रहना अनिमेष प्रेक्षा है ।

शरीर प्रेक्षा

साधना की दृष्टि से शरीर का बहुत महत्त्व है । यह आत्मा का केन्द्र है । इसी के माध्यम से चैतन्य अभिव्यक्त होता है । चैतन्य पर आए हुए आवरण को दूर करने के लिए इसे सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है । इसीलिए गौतम ने केशी से कहा था–यह शरीर नौका है । जीव नाविक है और ससार समुद्र है । इस नौका के द्वारा ससार का पार पाया जा सकता है । शरीर को समग्र दृष्टि से देखने की साधना-पद्धति बहुत महत्त्वपूर्ण है । शरीर के तीन भाग है–

१ अधोभाग–आंख का गड्ढा, गले का गड्ढा, मुख के बीच का भाग ।

२ उर्ध्वभाग–घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग ।

३. तिर्यग्भाग–समतल भाग ।

शरीर के अधोभाग मे स्रोत हैं, ऊर्ध्वभाग मे स्रोत है और मध्यभाग में स्रोत–नाभि है ।

साधक चक्षु का सयत कर शरीर की विपश्यना करे । उसकी विपश्यना करने वाला उसके अधोभाग को जान लेता है, उसके ऊर्ध्वभाग को जान लेता है और उसके मध्यभाग को भी जान लेता है ।

जो साधक वर्तमान क्षण मे शरीर मे घटित होने वाली सुख-दु ख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है ।

शरीर-दर्शन की यह प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है । सामान्यत बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अतर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है । इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म–ये दो सूक्ष्म शरीर है । उनके भीतर आत्मा है । स्थूल शरीर की क्रियाओ और सवेदनो को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमश तैजस और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है । शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर मे प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है । जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है ।

स्थूल शरीर के वर्तमान क्षण को देखने वाला जागरूक हो जाता है । कोई क्षण सुखरूप होता है और कोई क्षण दु खरूप । क्षण को देखने वाला सुखात्मक क्षण के प्रति राग नही करता और दु खात्मक क्षण के प्रति द्वेष नही करता । वह केवल देखता और जानता है ।

शरीर की प्रेक्षा करने वाला शरीर के भीतर से भीतर पहुचकर शरीर धातुओ को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतो (अतरों) को भी देखता है ।

देखने का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । उसका महत्त्व तभी अनुभूत होता है जब मन की स्थिरता, दृढ़ता और स्पष्टता से दृश्य को देखा जाए ।

शरीर के प्रकपनो को देखना, उसके भीतर प्रवेश कर भीतरी प्रकपनो को देखना, मन को बाहर से भीतर मे ले जाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से मूर्च्छा टूटती है और सुप्त चैतन्य जागृत होता है। शरीर का जितना आयतन है उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण मे चैतन्य व्याप्त है। इसीलिए शरीर के प्रत्येक कण मे सवेदन होता है। उस सवेदन से मनुष्य अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है और अपने स्वभाव का अनुभव करता है। शरीर मे होने वाले सवेदन को देखना चैतन्य को देखना है, उसके माध्यम से आत्मा को देखना है।

वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

अतीत बीत जाता है, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। भगवान् महावीर ने कहा–"खण जाणाहि पडिए।' साधक, तुम क्षण को जानो। अतीत के सस्कारो की स्मृति से भविष्य की कल्पनाए और वासनाए होती है। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना–दोनो से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेष-युक्त चित्त का निर्माण करती हैं। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। यह राग-द्वेष-शून्य वर्तमान क्षण ही सवर है। राग-द्वेष-शून्य वर्तमान क्षण को जीने वाला अतीत मे अर्जित कर्म-सस्कार के बध का निरोध करता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण मे जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का सवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान करता है।

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नही देखते। कल्पना को छोड़ने वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।

भगवान् महावीर ने कहा–'इस क्षण को जानो।' वर्तमान को जानना और वर्तमान मे जीना ही भावक्रिया है। यात्रिक जीवन जीना, काल्पनिक जीवन जीना और कल्पना-लोक मे उड़ान भरना द्रव्यक्रिया है। यह चित्त का विक्षेप है और साधना का विघ्न है। भावक्रिया स्वय साधना और स्वय ध्यान है। हम चलते है और चलते समय हमारी चेतना जागृत रहती है, 'हम चल

रहे है'—इसकी स्मृति रहती है—यह गति की भावक्रिया है। इसका सूत्र है कि साधक चलते समय पाचो इन्द्रियों के विषयों पर मन को केन्द्रित न करे। आखो से कुछ दिखाई देता है, शब्द कानों से टकराते है, गध के परमाणु आते हैं, ठडी या गर्म हवा शरीर को छूती है—इन सबके साथ मन को न जोड़ें। रस की स्मृति न करे।

साधक चलते समय पाचो प्रकार का स्वाध्याय न करे—न पढ़ाए, न प्रश्न पूछे, न पुनरावर्तन करे, न अर्थ का अनुचितन करे और न धर्म-चर्चा करे। मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे, किंतु चलता बन जाए, तन्मूर्ति (मूर्तिमान् गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने मे ही केन्द्रित रहे, चेतना गति का पूरा साथ दे। यह गमनयोग है।

शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया भावक्रिया बन जाती है। जब मन की क्रिया उसके साथ होती है, चेतना उसमे व्याप्त होती है।

भावक्रिया का सूत्र है—चित्त और मन क्रियमाण क्रियामय हो जाए, इन्द्रिया उस क्रिया के प्रति समर्पित हो, हृदय उसकी भावना से भावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय मे न जाए, इस स्थिति मे क्रिया भावक्रिया बनती है।

एकाग्रता

प्रेक्षा से अप्रमाद (जागरूकभाव) आता है। जैसे-जैसे अप्रमाद बढ़ता है, वैसे-वैसे प्रेक्षा की सघनता बढ़ती है। हमारी सफलता एकाग्रता पर निर्भर है। अप्रमाद या जागरूकभाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। शुद्ध उपयोग—केवल जानना और देखना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। किंतु इनका महत्त्व तभी सिद्ध हो सकता है जब ये लम्बे समय तक निरतर चले। देखने और जानने की क्रिया मे बार-बार व्यवधान न आए, चित्त उस क्रिया मे प्रगाढ और निष्प्रकप हो जाए। अनवस्थित, अव्यक्त और मृदु चित्त ध्यान की अवस्था का निर्माण नही कर सकता। पचास मिनट तक एक आलम्बन पर चित्त की प्रगाढ़ स्थिरता का अभ्यास होना चाहिए। यह सफलता का बहुत बड़ा रहस्य है। इस अवधि के बाद ध्यान की धारा रूपान्तरित हो जाती है। लम्बे समय तक ध्यान

करने वाला अपने प्रयत्न से उस धारा को नए रूप मे पकड़कर उसे प्रलंब बना देता है।

सयम

हमारे भीतर शक्ति का अनत कोष है। उस शक्ति का बहुत बड़ा भाग ढका हुआ है, प्रतिहत है। कुछ भाग सत्ता मे है और कुछ भाग उपयोग मे आ रहा है। हम अपनी शक्ति के प्रति यदि जागरूक हो तो सत्ता मे रही हुई शक्ति और प्रतिहत शक्ति को उपयोग की भूमिका तक ला सकते है।

शक्ति का जागरण सयम के द्वारा किया जा सकता है। हमारे मन की अनेक मागे होती है। हम उन मागो को पूरा करते चले जाते है। फलत हमारी शक्ति स्खलित होती जाती है। उसके जागरण का सूत्र है—मन की माग का अस्वीकार। मन की माग के अस्वीकार का अर्थ है—सकल्प-शक्ति का विकास। यही सयम है। जिसका निश्चय (सकल्प या सयम) दृढ़ होता है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नही होता।

शुभ और अशुभ निमित्त कर्म के उदय मे परिवर्तन ला देते है। किंतु मन का सकल्प उन सबसे बड़ा निमित्त है। इससे जितना परिवर्तन हो सकता है उतना अन्य निमित्तो से नही हो सकता। जो अपने निश्चय मे एकनिष्ठ होते है वे महान् कार्य को सिद्ध कर लेते है। गौतम ने पूछा—'भते! सयम से जीव क्या प्राप्त करता है?' भगवान् ने कहा—'सयम से जीव आस्रव का निरोध करता है। सयम का फल अनास्रव है।' जिसमे सयम की शक्ति विकसित हो जाती है उसमे विजातीय द्रव्य का प्रवेश नही हो सकता। सयमी मनुष्य बाहरी प्रभावो से प्रभावित नही होता। कहा है—सब काम ठीक समय से करो। खाने के समय खाओ, सोने के समय सोओ। सब काम निश्चित समय पर करो। यदि आप नौ बजे ध्यान करते हैं और प्रतिदिन उस समय ध्यान ही करते है, मन की किसी अन्य माग को स्वीकार नही करते तो आपकी सयम-शक्ति प्रबल हो जाएगी।

सयम एक प्रकार का कुभक है। कुभक मे जैसे श्वास का निरोध होता है, वैसे ही सयम मे इच्छा का निरोध होता है। भगवान् महावीर ने कहा—सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, बीमारी, गाली, मारपीट—इस सब घटनाओ को सहन करो।

यह उपदेश नही है। यह सयम का प्रयोग है। सर्दी लगती है तब मन की माग होती है कि गर्म कपड़ों का उपयोग किया जाए या सिगड़ी आदि की शरण ली जाए। गर्मी लगती है तब मन ठडे द्रव्यो की माग करता है। संयम का प्रयोग करने वाला उस माग की उपेक्षा करता है–मन की माग को जान लेता है, देख लेता है पर उसे पूरा नही करता। ऐसा करते-करते मन माग करना छोड़ देता है, फिर जो घटना घटती है वह सहजभाव से सह ली जाती है।

प्रेक्षा सयम है, उपेक्षा सयम है। आप पूरी एकाग्रता के साथ लक्ष्य को देखे, अपने आप सयम हो जाएगा। फिर मन, वचन और शरीर की माग आपको विचलित नही करेगी। उसके साथ उपेक्षा, मन, वचन और शरीर का सयम अपने आप सध जाता है।

भावनायोग

आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया

ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा–देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयो का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिंतन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है। इसलिए उस चिंतन या अभ्यास को भावना कहा जाता है।

जिस व्यक्ति को भावना का अभ्यास हो जाता है उसमे ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओ का अभ्यास आवश्यक है

१ ज्ञान भावना–राग, द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थभाव से देखने का अभ्यास।

२ दर्शन भावना–राग, द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थभाव से देखने का अभ्यास।

३ चारित्र भावना–राग, द्वेष और मोह से शून्य समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास।

४ वैराग्य भावना–अनासक्ति अनाकाक्षा और अभय का अभ्यास।

मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है,

उसी रूप मे उसका सस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे 'जप' भी कहा जा सकता है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा मे स्थित हो जाता है। 'सोऽहं' के जप का यही मर्म है। 'अर्हम्' की भावना करने वाले मे 'अर्हत' होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कोई व्यक्ति भक्ति से भावित होता है, कोई ब्रह्मचर्य से और कोई सत्सग से। अनेक व्यक्ति नाना भावनाओ से भावित होते है। जो किसी भी कुशल कर्म से अपने को भावित करता है उसकी भावना उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।

भगवान् महावीर ने भावना को नौका के समान कहा है। नौका यात्री को तीर तक ले जाती है। उसी प्रकार भावना भी साधक को दु ख के पार पहुचा देती है।

प्रतिपक्ष की भावना से स्वभाव, व्यवहार और आचरण को बदला जा सकता है। मोह कर्म के विपाक का प्रतिफल भावना का निश्चित परिणाम होता है। उपशम की भावना से क्रोध, मृदुता की भावना से अभिमान, ऋजुता की भावना से माया और सतोष की भावना से लोभ को बदला जा सकता है। राग और द्वेष का सस्कार चेतना की मूर्च्छा से होता है और वह मूर्च्छा चेतना के प्रति जागरूकता लाकर तोड़ी जा सकती है। प्रतिपक्ष भावना चेतना की जागृति का उपक्रम है, इसलिए उसका निश्चित परिणाम होता है।

साधनाकाल मे ध्यान के बाद स्वाध्याय और स्वाध्याय के बाद फिर ध्यान करना चाहिए। स्वाध्याय की सीमा मे जप, भावना और अनुप्रेक्षा–इन सबका समावेश होता है। यथासमय और यथाशक्ति इन सबका प्रयोग आवश्यक है।

भावधारा और आभामंडल

चैतन्य लेश्या पुद्गल लेश्या

जीव और अजीव के बीच जो भेद-रेखाए खीची गयी है उनमे एक भेद-रेखा है लेश्या। लेश्या जीव मे ही होती है, अजीव मे नही होती। इस नियम के आधार पर यह परिभाषा की जा सकती है कि जिसमे लेश्या होती है वह जीव और जिसमे लेश्या नही होती वह अजीव।

लेश्या चैतन्य और पुद्गल—दोनो के योग से निर्मित होती है। चैतन्य की रश्मि पुद्गल की रश्मि को प्रभावित करती है और पुद्गल की रश्मि चैतन्य की रश्मि को प्रभावित करती है। यह पारस्परिक प्रभाव ही लेश्या का मौलिक आधार है। लेश्या का विचार चैतन्य-परिणाम और पुद्गल-परिणाम—दोनो दृष्टियो से होता है। हमारे विचार पौद्गलिक द्रव्यो से प्रभावित होकर जो आकार लेते है वह 'चैतन्य लेश्या' है। हमारे विचारो से प्रभावित होकर पौद्गलिक द्रव्य जो आकार लेते है वह 'पुद्गल लेश्या' या 'आभामडल' है। हमारे विचार बहुत सूक्ष्म होते है, इसलिए उनके आधार पर आभामडल को पहचानना दूसरे व्यक्ति के लिए सहज नही होता। आभामडल विचारो की अपेक्षा स्थूल होता है, इसलिए उसके माध्यम से विचारो को पहचाना जा सकता है। किंतु आभामडल भी इतना स्थूल नही होता कि उसे चर्म-चक्षु से देखा जा सके। वह इन्द्रियगम्य नही है। उसे देखने के लिए अतीन्द्रिय प्रतिभा का

विकास जरूरी है। प्रेक्षाध्यान के द्वारा वह किया जा सकता है। उसका विकास होने पर आभामडल को देखा जा सकता है और आभामडल के द्वारा विचारो को देखा जा सकता है।

जीवित और मृत की पहचान · आभामंडल

प्रत्येक प्राणी के दो प्रकार के शरीर होते है—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल शरीर रक्त, मास, अस्थि आदि धातुओ से निर्मित होता है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म परमाणुओ से निर्मित होता है। उसके इलेक्ट्रॉन स्थूल शरीर (ठोस शरीर) के इलेक्ट्रॉनो की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से चलायमान होते हैं। इसीलिए सूक्ष्म शरीर और उसकी गतिविधि इन्द्रियगम्य नही होती। सूक्ष्म शरीर के दो प्रकार है—तैजस शरीर और कर्म शरीर। प्राणी की प्राण-शक्ति का मूल स्रोत तैजस शरीर है। इससे प्राण-शक्ति उत्पन्न होती है। वह स्थूल शरीर, श्वास, इन्द्रिय, वचन और मन को सचालित करती है। पौद्‌गलिक लेश्या या आभामडल भी तैजस शरीर से निष्पन्न होता है। प्राणी के जन्म लेने के साथ वह बनता है और जीवन के अत तक वह रहता है। इसके आधार पर जीवित या मृत का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। हृदयगति या श्वास के रुक जाने पर या नाड़ी के स्पदन पकड़ मे न आने पर मनुष्य को मृत घोषित किया जाता है, यह एक स्थूल ज्ञान है। जीवित या मृत के पहचान की सूक्ष्म पद्धति है आभामडल का ज्ञान। जब तक आभामडल क्षीण नही होता तब तक हृदयगति या श्वास के रुक जाने पर भी मनुष्य की वास्तविक मृत्यु नहीं होती। उसकी वास्तविक मृत्यु आभामडल के क्षीण हो जाने पर ही होती है।

सोवियत रूस के इलेक्ट्रॉनिक विशेषज्ञ सेमयोन किर्लियान तथा उनकी वैज्ञानिक पत्नी वेलेन्टिना ने फोटोग्राफी की एक विशेष विधि का आविष्कार किया। उस विधि द्वारा प्राणियो और पौधो के आसपास होने वाली सूक्ष्म विद्युतीय गतिविधियो का छायाकन किया जा सकता है। जब एक पौधे से तत्काल तोड़ी गयी पत्ती की सूक्ष्म गतिविधियो की फिल्म खीची गयी तो आश्चर्यकारी दृश्य सामने आए। पहले चित्र मे पत्ती के चारो ओर स्फुलिगो, झिलमिलाहटो और स्पदी ज्येतियो के मडल दिखायी दिए। दस घटे बाद लिए गए छाया-चित्रो मे ये आलोकमडल क्षीण होते दिखाई दिए। अगले दस घटो

के छाया-चित्रो मे आलोकमडल पूरी तरह क्षीण हो चुके थे। इसका तात्पर्य है कि पत्ती की तब मौत हो चुकी थी।

किर्लियान दम्पत्ति ने एक रुग्ण पत्ती की फिल्म उस विशेष विधि से खीची। उसमे आलोकमडल प्रारम्भ से ही कम था और वह शीघ्र ही समाप्त हो गया।

किर्लियान दम्पति ने उस विशेष विधि द्वारा अत्यत निकट से मानव शरीर के छायाचित्र खीचे। उन छायाचित्रो मे गरदन, हृदय, उदर आदि अवयवो पर विभिन्न रगो के सूक्ष्म धब्बे दिखाई दिए। वे उन अवयवो से विसर्जित होने वाली विद्युत-ऊर्जाओ के द्योतक थे।

लेश्या वनस्पति के जीवो मे भी होती है। पशु-पक्षी तथा मनुष्य मे भी होती है। इसलिए आभामडल भी प्राणिमात्र मे होता है।

तैजस शरीर है शक्ति-केन्द्र

तैजस शरीर शक्ति-विकिरण का केन्द्र है। वह जितना विकसित होता है उतना ही उससे शक्ति-विकिरण होता है। वह शक्ति-विकिरण स्थूल शरीर के चारो ओर तीन-चार फुट तक फैल जाता है। यह अन्तरग के अच्छे या बुरे विचारो का विकिरण करता है। यह सबका एक जैसा नही होता। लेश्या के आधार पर यह सशक्त या अशक्त, अच्छा या बुरा होता है। इससे दूसरे व्यक्ति प्रभावित होते है। अशक्त आभामडल वाला सशक्त आभामडल वाले से प्रभावित हो जाता है। 'भले मनुष्य के ससर्ग मे रहो', 'बुरे मनुष्य के ससर्ग से बचो'—इस उपदेश-वाक्य के पीछे यही रहस्य सन्निहित है। अच्छे आभामडल वाले व्यक्ति के पास जाने पर बुरे विचार छूट जाते है और अच्छे विचार आने लग जाते है। किसी का आभामडल बुरा, कितु सशक्त हो तो उसके पास अच्छे विचार वाला, कितु दुर्बल आभामडल वाला जाता है तो उसके विचार भी बुरे बन जाते है। बहुत बार अकारण ही घृणा, दैन्य या विषाद के विचार इन्ही प्रभावो से आ जाते है। उत्साह, प्रसन्नता या सात्त्विक विचारो की आकस्मिक उत्पत्ति मे भी आभामडल के प्रभाव कार्य करते है।

लेश्या का वर्गीकरण

प्राणिमात्र के अध्यवसाय अशुद्ध और शुद्ध–दोनो प्रकार के होते है। जिस अध्यवसाय मे राग-द्वेषात्मक सक्लेश होता है वह अशुद्ध होता है और जिसमें राग-द्वेषात्मक सक्लेश नही होता वह शुद्ध होता है। इस अध्यवसाय-भेद के आधार पर लेश्या के दो वर्ग बनते है–अधर्म लेश्या और धर्म लेश्या। लेश्या पुद्गल-परमाणुओ से प्रभावित होती है और उन्हे प्रभावित करती है। पुद्गल-परमाणुओ मे पाच वर्ण होते है। इस आधार पर लेश्या का दूसरा वर्गीकरण होता है। उस वर्गीकरण मे लेश्या के छह प्रकार बनते है–कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोत लेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। कापोतलेश्या मे कृष्ण और लाल–दोनो रग मिश्रित होते है। उक्त दोनो वर्गीकरण निमित्त और उपादान के आधार पर किए गए है। अशुद्ध लेश्या का उपादान है–कषाय और तीव्रता। और शुद्ध लेश्या का उपादान है–कषाय की मदता। अशुद्ध लेश्या के निमित्त है–कृष्ण, नील और कापोत वर्ण वाले पुद्गल और शुद्ध लेश्या के निमित्त है– रक्त, पीत और श्वेत वर्ण वाले पुद्गल।

प्रथम तीन लेश्याओ मे विचार क्लेशपूर्ण होती है और अतिम तीन लेश्याओ मे विचारधारा क्लेशरहित होती है। उनमे क्लेश और अक्लेश की तरतमता इस प्रकार रहती है–

१	कृष्णलेश्या	– अशुद्धतम	– क्लिष्टतम
२	नीललेश्या	– अशुद्धतर	– क्लिष्टतर
३	कापोतलेश्या	– अशुद्ध	– क्लिष्ट
४	तेजोलेश्या	– शुद्ध	– अक्लिष्ट
५	पद्मलेश्या	– शुद्धतर	– अक्लिष्टतर
६	शुक्ललेश्या	– शुद्धतम	– अक्लिष्टतम

मनुष्य मे जैसी लेश्या होती है वैसा ही उसका आभामडल होता है। विचारधारा की विशुद्धि से आभामडल विशुद्ध बनता है और उसकी मलिनता से आभामडल मलिन बनता है। इस सिद्धात के अनुसार मनुष्य के आभामडल भी छह प्रकार के बनते जाते है। पचवर्ण वाले पुद्गल-परमाणु मनुष्य की

विचारधारा को प्रभावित करते है। उनके आधार पर मनुष्य की विचारधारा भी छह रगी बन जाती है।

जो पुद्गल-परमाणु मनुष्य की विचारधारा को प्रभावित करते है और जिन पुद्गल-परमाणुओ से आभामडल निर्मित होते हैं उनमे वर्ण, गध, रस और स्पर्श–ये चारो होते है। इनमे वर्ण मनुष्य के शरीर और मन को अधिक प्रभावित करता है। इसीलिए वर्ण के आधार पर लेश्याओ के नामकरण प्रस्तुत किए गए है।

लेश्याओ के वर्ण, रस, गध और स्पर्श एक चार्ट द्वारा समझाए गए है। (देखे पृ १४३)

वर्ण अच्छे या बुरे दोनो प्रकार के होते है। काला वर्ण अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। प्रशस्त भी होता है, अप्रेशस्त भी होता है। मनोज्ञ भी होता है, अमनोज्ञ भी होता है। श्वेत वर्ण भी अच्छा-बुरा या प्रशस्त-अप्रशस्त, या मनोज्ञ-अमनोज्ञ होता है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के आभामडल मे होने वाले कृष्ण, नील और कापोत वर्ण अप्रशस्त होते है। तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या के आभामडल मे होने वाले रक्त, पीत और श्वेत प्रशस्त होते है।

लेश्या और ध्यान

मानसिक विचार की तरतमता के छह स्थान किए गए है। यह एक स्थूल वर्गीकरण है। सूक्ष्म तरतमता के आधार पर उसके अनेक स्थान होते है। यही नियम आभामडल के लिए लागू होता है। मानसिक तरतमता के आधार पर वर्णो की छाया मे भी बहुत तरतमता आ जाती है।

क्रोध, मान, माया और लोभ का परिणाम उत्कृष्ट होता है तब कृष्णलेश्या मध्यम होता है, तब नीललेश्या और मद होता है, तब कापोतलेश्या की भावधारा होती है। क्रोध, मान, माया और लोभ के सयम का परिणाम मद होता है तब तेजोलेश्या मध्यम होता है, तब पद्मलेश्या और उत्कृष्ट होता है, तब शुक्ललेश्या की भावधारा होती है।

आर्त्तध्यान के समय कृष्ण, नील और कापोत–ये तीनो लेश्याए होती हैं। रौद्रध्यान के समय भी ये तीनो होती है, किंतु उनका परिणमन तीव्रतम

लेश्याओ के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श

लेश्या	वर्ण	रस	गंध	स्पर्श
१ कृष्ण	मेघ की तरह कृष्ण।	तूबे से अनन्त गुना कड़वा।		
२ नील	अशोक की तरह नील।	त्रिकुट से अनन्त गुना तीखा।	मृत सर्प की गध से अनन्त गुना अमनोज्ञ।	गाय की जीभ से अनन्त गुना कर्कश।
३ कापोत	अलसी पुष्प की तरह मटमैला।	केरी से अनन्त गुना कसैला।		
४ तेजस्	हिगुल की तरह रक्त।	पके आम से अनन्त गुना अम्ल-मधुर।		
५. पद्म	हरिताल की तरह पीत।	आसव से अनन्त गुना अम्ल कसैला और मधुर।	सुरभि कुसुम की गध से अनन्त गुना मनोज्ञ	नवनीत से अनन्त गुना मृदु।
६ शुक्ल	शख की तरह श्वेत।	खजूर से अनन्त गुना मधुर।		

होता है । धर्मध्यान के समय तेजस्, पद्म और शुक्ल–ये तीनों लेश्याए होती है । शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणो मे शुक्ल और तीसरे चरण मे परम शुक्ललेश्या होती है । उसका चौथा चरण लेश्यातीत होता है । भावधारा की विचित्रता के आधार पर आभामडल के वर्ण भी विचित्र बनते जाते है और वर्ण विचित्रता भावधारा की विचित्रता का बोध कराने मे सक्षम होती है । हम भावधारा को साक्षात् नही देख पाते, नही जान पाते । वर्णो की विचित्रता के आधार पर भावधारा का अनुमान कर सकते है ।

आभामडल और वर्ण

आभामडल मे काले वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि इस व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् नही है, आकाक्षा प्रबल है, प्रमाद प्रचुर है, कषाय का आवेग प्रबल और प्रवृत्ति अशुभ है, मन, वचन और काया का सयम नही है, इन्द्रियो पर विजय प्राप्त नही है, प्रकृति क्षुद्र है, बिना विचारे काम करता है, क्रूर है और हिसा मे रस लेता है ।

यदि काला वर्ण अधिक अप्रशस्त, अमनोज्ञ होता है तो उक्त भावधारा और प्रवृत्ति के अधिक तीव्र रूप का अनुमान किया जा सकता है ।

आभामडल मे नील वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि इस व्यक्ति मे ईर्ष्या, कदाग्रह, माया, निर्लज्जता, आसक्ति, प्रद्वेष, शठता, प्रमाद, यशलोलुपता, सुख की गवेषणा, प्रकृति की क्षुद्रता, बिना विचारे काम करना, अतपस्विता, अविद्या, हिसा मे प्रवृत्ति– इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति है ।

यदि नील वर्ण अधिक अप्रशस्त, अमनोज्ञ होता है तो उक्त भावधारा और प्रवृत्ति के अधिक तीव्ररूप का अनुमान किया जा सकता है ।

आभामडल मे कापोत वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि इस व्यक्ति मे वाणी की वक्रता, आचरण की वक्रता, प्रवचना, अपने दोषो को छिपाने की प्रवृत्ति, मखौल करना, दुष्टवचन बोलना, चोरी करना, मात्सर्य, मिथ्यादृष्टि–इस प्रकार की भावधारा और प्रवृत्ति है ।

यदि कापोत वर्ण अधिक अप्रशस्त, अमनोज्ञ होता है तो उक्त भावधारा और प्रवृत्ति के अधिक तीव्ररूप का अनुमान किया जा सकता है ।

आभामडल में रक्त वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति नम्र व्यवहार करने वाला, अचपल, ऋजु, कुतूहल न करने वाला, विनयी, जितेन्द्रिय, मानसिक समाधि वाला, तपस्वी, धर्म मे दृढ़ आस्था रखने वाला, पापभीरु और मुक्ति की गवेषणा करने वाला है।

आभामडल मे पीतवर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति अल्प क्रोध, मान, माया और लोभ वाला, प्रशात चित्त वाला समाधिस्थ अल्पभाषी जितेन्द्रिय और आत्मसयम करने वाला है।

आभामडल मे श्वेत वर्ण की प्रधानता हो तो समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति प्रशात चित्त वाला, जितेन्द्रिय, मन, वचन और काया का सयम करने वाला, शुद्ध आचरण से सम्पन्न ध्यानलीन और आत्म-सयमं करने वाला है।

यदि रक्त, पीत और श्वेत वर्ण अधिक प्रशस्त, मनोज्ञ होते है तो उक्त भावधारा और प्रवृत्ति के उकृष्ट होने का अनुमान किया जा सकता है।

ध्यान और लेश्या का सबध

ध्यान और लेश्या का सबध इस प्रकार है–

१ **आर्त्तध्यान**–	कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की भावधारा, कृष्ण, नील और कापोत वर्ण की प्रधानता वाला अमनोज्ञ आभामडल।
२ **रौद्रध्यान**–	कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की प्रकृष्ट भावधारा, कृष्ण नील और कापोत वर्ण की प्रधानता वाला अमनोज्ञतम आभामडल।
३ **धर्मध्यान**–	तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या की भावधारा, तेजस्, पद्म और शुक्ल वर्ण की प्रधानता वाला आभामडल।
४ **शुक्लध्यान**–	शुक्ल और परमशुक्ल लेश्या की भावधारा, शुक्ल वर्ण का मनोज्ञतम आभामडल।

लेश्या और चैतन्य-केन्द्र

हमारे शरीर मे अनेक चैतन्य-केन्द्र है। आर्त्त, रौद्रध्यान होता है तब अशुद्ध लेश्या होती है। उस स्थिति में चैतन्य-केन्द्र सुप्त रहते हैं। धर्म और शुक्ल ध्यान होता है तब लेश्या शुद्ध होती है। उस स्थिति मे चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते हैं। चैतन्य-केन्द्र हमारी चेतना और शक्ति की अभिव्यक्ति के स्रोत है। उन्हे जागृत करने की दो पद्धतिया हैं—

१ विशुद्ध लेश्या की भावधारा द्वारा चैतन्य-केन्द्र अपने आप जागृत हो जाते है।

२ चैतन्य-केन्द्रो पर अवधान नियोजित करने पर वे भी जागृत हो जाते है।

महावीर ने इसीलिए अप्रमाद का सूत्र दिया कि अप्रमत्त रहने वाले व्यक्ति की लेश्या शुद्ध होती है तब चैतन्य-केन्द्र सहज ही जागृत हो जाते है और ये चैतन्य-केन्द्र अप्रमत्त रहने के आलबन भी बनते है। सुप्त चैतन्य-केन्द्रो पर मन विचरण करता है तब कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की भावधारा उभरती है। चैतन्य-केन्द्रो के जागृत हो जाने पर तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या की भावधारा बनती है।

अप्रमत्त अवस्था मे अध्यवसाय (अचेतन मन) शुद्ध बनता है। उससे लेश्या शुद्ध होती है। उसके शुद्ध होने पर ही मनुष्य का स्वभाव बदल सकता है, आदतो मे परिवर्तन आ सकता है, रुचि और आकाक्षा को नया मोड़ दिया जा सकता है। लेश्या की शुद्धि हुए बिना जीवन-परिवर्तन की दिशा मे एक पैर भी आगे नही बढ़ाया जा सकता। व्यक्तित्व के परिष्कार का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—लेश्या का विशुद्धीकरण, लेश्या के विशुद्धीकरण का सूत्र है—शुद्ध अध्यवसाय, और शुद्ध अध्यवसाय का आधार है—धर्म और शुक्ल ध्यान। ध्यान और लेश्या मे गहरा सबध है। ध्यान अशुद्ध होता है तो लेश्या अशुद्ध हो जाती है, आभामडल विकृत बन जाता है। ध्यान शुद्ध होता है तो लेश्या शुद्ध हो जाती है, आभामडल स्वस्थ और निर्मल बन जाता है।

वैज्ञानिक निष्कर्ष

अणु-आभा वैज्ञानिक डॉ जे सी ट्रस्ट ने इस विषय का बड़े

मनोवैज्ञानिक ढग से स्पर्श किया है। उनके अनुसार अनेक अशिक्षित लोगो के अणुओं में प्रकाश-रसायन प्राप्त हुए। साधारणतः लोग उन्हीं को सच्चरित्र और धार्मिक मानते हैं जो ऊंचे घरानों में जन्म लेते हैं, गरीबों में धन आदि बांटते हैं तथा प्रातः-सायं उपासना आदि नित्य-कर्म करते हैं। परन्तु उन्हें बहुत से ऐसे लोग मिले जो देखने पर बड़े धर्मात्मा तथा स्वच्छ वस्त्रधारी थे, परन्तु उनके अन्दर काले अणुओं का बाहुल्य था। इसके विपरीत कितने ही ऐसे अपढ़, गंवार तथा बाह्यरूप से भद्दे प्रतीत होने वाले लोग भी देखने को मिले, जिन्हे किसी भी प्रकार कुलीन नही कहा जा सकता। परन्तु उस समय आश्चर्य का कोई सीमा नहीं रही जब उनके प्रकाशाणुओ की थरथरियो को उनकी आभा मे स्पष्ट रूप से देखा गया। आश्चर्य का कारण यह था कि प्रकाशाणुओ की विकास कई वर्ष के सतत परिश्रम और इन्द्रियो के अणुओ के नियत्रण के पश्चात् हो पाता है, परन्तु इन लोगों ने अनजाने ही प्रकाशाणुओ को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने कभी स्वप्न मे भी प्रकाशाणुओ के विकास के विषय मे न सोचा होगा।

ऋजुता, जितेन्द्रियता और मानसिक समाधि होती है तब कृष्ण, नील और कापोत—इन तीनो लेश्याओं की भावधारा बदल जाती है और उनसे प्रभावित चैतन्य-केन्द्र भी जागृत हो जाते हैं। मनुष्य अप्रमाद के द्वारा ऋजुता आदि की पवित्र भावना रखना चाहता है, फिर भी वृत्तियो का दबाव पड़ता है, अशुभ कर्म का विपाक होता है और वह अशुभ भावना से घिर जाता है। पूर्वार्जित वृत्तियो और कर्मो को विलीन करने के लिए रगो का ध्यान भी उपयोगी बनता है।

लेश्या और मानसिक चिकित्सा

हम शुभ भावना करते हैं तब शुभ पुद्गलो का ग्रहण होता है और वे हमारे आभामडल को निर्मल बनाते हैं। जैसे अनुकूल भोजन से शरीर पुष्ट होता है और प्रतिकूल भोजन से वह क्षीण होता है उसी प्रकार पवित्र भावना से शरीर और आभामंडल—दोनो स्वस्थ होते हैं। भय, शोक, ईर्ष्या आदि के द्वारा अनिष्ट पुद्गलो का ग्रहण होता है, उनसे शरीर और आभामडल—दोनो

विकृत होते है ।

अशुभ भावना से बचने के लिए बाहरी निमित्तो का भी उपयोग किया जा सकता है। वे निमित्त हमारी लक्ष्यपूर्ति मे सहयोगी बनते हैं। रगो की कमी से उत्पन्न होने वाले रोग रगो की समुचित पूर्ति होने पर मिट जाते है, यह उनका शारीरिक प्रभाव है। इसी प्रकार रगो के परिवर्तन और मात्रा-भेद से मन प्रभावित होता है और चैतन्य-केन्द्र भी जागृत होते हैं।

लाल रग का ध्यान करने से शक्ति-केन्द्र (मूलाधार) और दर्शन-केद्र (आज्ञाचक्र)—ये चैतन्य-केद्र जागृत होते हैं। पीले रंग का ध्यान करने से आनन्द-केन्द्र (अनाहत चक्र) जागृत होता है। श्वेत रग का ध्यान करने से विशुद्धि-केद्र (विशुद्धि-चक्र), तैजस-केन्द्र (मणिपूर-चक्र) और ज्ञान केन्द्र (सहस्रार-चक्र) जागृत होते है।

श्वेत वर्ण ठडा होता है। वह सूर्य से प्राप्त होने वाले जीवन-तत्त्व और बल को शरीर तक पहुचाने मे कोई बाधा उपस्थित नही करता। लाल रग गर्मी बढ़ाने वाला है। जिसके शरीर मे रक्त की गति मद हो, उसके लिए यह लाभदायक है। किंतु जिसके ज्ञानततु दुर्बल हो, उसके लिए यह लाभकारक नही है। जो तुरत थक जाता है और खिन्न रहता है उसके लिए यह रग बहुत उपयोगी है। पीला रग भी गर्मी बढ़ाने वाला होता है। उससे ज्ञानततु जागृत होते है—स्वस्थ रहते है। काला रग सूर्य की रश्मियो को स्वय आकर्षित कर लेता है। नीला रग शीत प्रकृति का होता है। इससे जीवन-शक्ति प्राप्त होती है। इसमे विद्युत्-शक्ति है। यह पौष्टिक और शांति देने वाला है।

रगो के आधार पर मनुष्य के मानेभावो को पहचाना जा सकता है। जिसे आसमानी रग पसन्द होता है वह बोलने मे दक्ष, सहृदय और गभीर होता है। वह मनोविकार, उत्साह आदि वृत्तियो पर नियत्रण पा लेता है। जिसे पीला रग पसद हो वह विचारक और आदर्शवादी होता है। लाल रग को पसद करने वाला व्यक्ति साहसी, आशावान, सहिष्णु और व्यवहार-कुशल होता है। काले रग को पसद करने वाला दीनभावना से घिरा होता है। श्वेत रग की पसद करने वाला सात्त्विक वृत्ति और सात्त्विक भावना वाला होता है।

सूर्य का रंग पारे के समान श्वेत, चन्द्रमा का रग चांदी के समान रूपहला, मगल का तांबे के समान लाल, बुध का हरा, वृहस्पति का सोने के समान पीला, शुक्र का नील, शनि का आसमानी, राहु का काला, केतु का आसमानी रग है। इनकी किरणें भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव डालती हैं। सूर्य की किरणे निर्मल होती हैं तो उनका भिन्न प्रकार का प्रभाव होता है। उसकी किरणो के साथ मंगल आदि दूसरे ग्रहो की किरणे मिल जाती है तब उनका प्रभाव दूसरे प्रकार का होता है।

रगो के गुणो और प्रभावो का यह सकेत मात्र निदर्शन है। प्रत्येक रग के अनेक पर्याय होते हैं और प्रत्येक पर्याय के गुण और प्रभाव भिन्न-भिन्न होते हैं। निर्मल भावना, ध्येय और उसके अनुरूप रगो का चयन कर अनेक मानसिक समस्याओ को सुलझाया जा सकता है।

लेश्या और ज्ञान

सामान्यत हमारा ज्ञान पुस्तकीय होता है। हम पुस्तके पढ़ते है और स्मृति के आधार पर पढ़ी हुई बातो को सजोकर रखते है। यह स्मृति-ज्ञान है। कुछ ज्ञान अपने चितन और मनन के द्वारा प्राप्त करते है। हमारे ज्ञान की इतनी छोटी-सी सीमा है। विशिष्ट ज्ञान और अतीद्रिय ज्ञान पढ़ने या चितन-मनन से नही होता, वह अध्यवसाय और लेश्या की विशुद्धि होने पर होता है। वह आकस्मिक जैसा होता है। पहले क्षण मे नही होता और अगले क्षण मे सहसा प्रकट हो जाता है। यद्यपि वह सहसा प्रकट होता, लेश्या की विशुद्धि होते-होते होता है, फिर भी उसकी पृष्ठभूमि मे कोई अध्ययन, चितन-मनन नही होता, इसलिए वह सहसा-जैसा लगता है। यह आत्मज्ञान है। पुस्तकीय ज्ञान बाहर से लिया हुआ या पुस्तकों के आधार पर चितन किया हुआ होता है। आत्मज्ञान भीतर से प्रकट होता है। उसकी उपलब्धि से ही सत्य का द्वार उद्घाटित होता है। इस सदर्भ मे शुद्ध लेश्या, उसके सहयोगी पुद्गलों और निर्मल आभामंडल का मूल्याकन किया जा सकता है।[1]

---

१ आभामडल और लेश्याध्यान की विस्तृत जानकारी के लिए देखे—लेखक की नई कृति 'आभामंडल'।

चैतन्य-केन्द्र

चैतन्य-केन्द्र क्या है ?

जो दृश्य है वह स्थूल शरीर है। इसके भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। वह चैतन्यमय है। जैसे सूर्य और हमारे बीच मे बादल आ जाते हैं वैसे ही आत्मा के चैतन्य और बाह्य जगत् के बीच मे कर्म-शरीर के बादल छाए हुए हैं। इसीलिए चैतन्य-सूर्य का पूर्ण प्रकाश बाह्य जगत् पर नहीं पड़ता। बादलो के होने पर भी सूर्य का प्रकाश पूरा ढक नही जाता। वैसे ही कर्म-शरीर का आवरण होने पर भी चैतन्य पूरा आवृत्त नही होता। उसकी कुछ रश्मिया बाह्य जगत् को प्रकाशित करती रहती हैं। मनुष्य अपने प्रयत्न से कर्म शरीरगत ज्ञानावरण को जैसे-जैसे विलीन करता है वैसे-वैसे चैतन्य की रश्मिया अधिक प्रस्फुटित होने लगती है। कर्म-शरीरगत ज्ञानावरण की क्षमता जितनी विलीन होती है उतने ही स्थूल शरीर प्रज्ञान की अभिव्यक्ति के केद्र निर्मित हो जाते हैं। ये ही हमारे चैतन्य-केद्र हैं।

समूचा शरीर ज्ञान का साधक

आत्मा के असख्य प्रदेश (अविभागी अवयव) हैं। ज्ञानावरण उन सबको आवृत्त किए हुए है। इस आवरण का विलय भी सब प्रदेशो मे होता है।

आत्मा समूचे शरीर मे व्याप्त है, फलत शरीर की प्रत्येक कोशिका मे चैतन्य व्याप्त है, प्रत्येक कोशिका मे ज्ञान की क्षमता है। शरीरशास्त्र के अनुसार ज्ञान का स्रोत नाड़ी-सस्थान है। मस्तिष्क और सुषुम्ना के द्वारा ही सब ज्ञान होता है। कर्म-शास्त्र की भाषा मे नाड़ी-सस्थान को ज्ञान की अभिव्यक्ति का माध्यम कहा जा सकता है। शरीरशास्त्र के अनुसार शरीर के सारे कोष एक जैसे है। कुछ कोषो को विशेषज्ञता प्राप्त हो गई है, इसलिए वे ज्ञान के स्रोत बन गए है। यदि प्रशिक्षित किया जाए तो आख की चमड़ी और हाथ की अगुलियो से देखा जा सकता है। कान की हड्डियो की तुलना मे दात ध्वनि का अच्छा वाहक है। दातो मे एक यात्रिक उपकरण फिट कर उससे कान का काम लिया जा सकता है। पाच इद्रियो के ज्ञान-केन्द्र (या ज्ञान-स्रोत) बहुत स्पष्ट है। ध्यान-साधना के द्वारा 'सभिन्नस्रोतोलब्धि' का विकास होने पर समूचा शरीर ही इद्रिय ज्ञान का केन्द्र (या स्रोत) बन जाता है। सभिन्न स्रोतोलब्धि वाला सब अगो से सुन सकता है, अथवा एक इद्रिय से सब इद्रियो के विषयो को जान सकता है, आख से सुन सकता है और कान से देख सकता है।

मानसिक ज्ञान का चैतन्य-केन्द्र मस्तिष्क है। मन की सरी वृत्तिया उसके विभिन्न कोष्ठो के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। हम इद्रिय और मन के ज्ञान से ही परिचित है और उनके चैतन्य-केन्द्र ही हमारी शरीर-सरचना मे स्पष्ट है। इद्रिय और मन ज्ञान की सीमा नही है। वे ज्ञान के आदि-बिदु है। यदि कोई व्यक्ति अपने शरीरस्थ चैतन्य-केन्द्रो को विकसित कर सके तो वह इद्रिय और मन से अतीत विषयो को जान सकता है। वे चैतन्य-केन्द्र ध्यान के द्वारा विकसित किए जा सकते है।

अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति और अभिव्यक्ति

हठयोग और तत्रशास्त्र मे चैतन्य-केन्द्रो को चक्र कहा जाता है। जैन योग मे चैतन्य-केन्द्रो के अनेक आकारो का उल्लेख मिलता है, जैसे--शख, कमल, स्वस्तिक, श्रीवत्स नद्यावर्त, ध्वज, कलश, हल आदि। ये नाना आकार वाले चैतन्य-केन्द्र इद्रियातीत ज्ञान के माध्यम बनते है। इनके माध्यम से चैतन्य का प्रकाश बाहर फैलता है। अतीन्द्रियज्ञान का एक प्रकार है अवधिज्ञान।

जैसे जालीदार ढक्कन में रखे हुए दीप का प्रकाश जाली मे छनकर बाहर आता है, वैसे ही अवधिज्ञान की प्रकाश-रश्मिया इन चैतन्य-केन्द्रो के माध्यम से बाहर आती है। आनुगामिक अवधिज्ञान के दो प्रकार होते है—अंतगत और मध्यगत। जैसे कोई मनुष्य टॉर्च को आगे की ओर करता है तब उसका प्रकाश आगे की ओर फैलता है। जब वह उसे पीछे की ओर करता है तब उसका प्रकाश पीछे की ओर फैलता है। जब वह उसे दाए-बाए करता है तब उसका प्रकाश दाए-बाए फैलता है। यह एक दिशा मे फैलने वाला प्रकाश स्पष्ट होता है। अतगत अवधिज्ञान भी ऐसा ही होता है। उसका प्रकाश आगे, पीछे या दाए-बाए फैलता है। वह जिस दिशा मे फैलता है उस दिशा मे स्पष्ट होता है। किन्तु उसका प्रकाश सब दिशाओ मे नही फैलता। यह अवधिज्ञान सपूर्ण शरीर के माध्यम से नही होता किंतु जितने चैतन्य-केन्द्र विकसित होते है उतने चैतन्य-केन्द्रो के माध्यम से होता है। एक मनुष्य मे एक चैतन्य केन्द्र भी विकसित हो सकता है और अनेक चैतन्य-केन्द्र भी विकसित हो सकते हैं। इनके विकास का हेतु ध्यान है। जिन चैतन्य-केन्द्रो पर अवधान नियोजित किया जाता है वे विकसित हो जाते है। ध्यान की धारा आगे-पीछे, दाए-बाए—जिस दिशा मे प्रवाहित होती है उस दिशा के चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते है और वे चैतन्य रश्मियो के बहिर्निर्गमन के माध्यम बन जाते है।

जैसे दीवट पर रखे हुए दीप का प्रकाश चारो दिशाओ मे फैलता है वैसे ही मध्यगत अवधिज्ञान की प्रकाश-रश्मिया समूचे शरीर से बाहर आती है।

प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया

प्रेक्षाध्यान की दो पद्धतिया है—

१ सपूर्ण शरीर प्रेक्षा।

२ चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा।

सपूर्ण शरीर की प्रेक्षा करने से पूरा शरीर 'करण' बन जाता है, अतीन्द्रियज्ञान का साधन बन जाता है। इसमे दीर्घकाल, गहन अध्यवसाय, सघन श्रद्धा और धृति की अपेक्षा होती है। कुछ महीनो और वर्षो की प्रेक्षा-

साधना से पूरा शरीर 'करण' नही बन जाता। उसके लिए बहुत बड़ा अभ्यास जरूरी होता है। इसकी अपेक्षा किसी एक चैतन्य-केन्द्र की प्रेक्षा का अभ्यास कुछ सरल होता है। पूरे शरीर की प्रेक्षा का परिपाक होने पर पूरे शरीर से अतींद्रियज्ञान की प्रकाशरश्मिया बाहर फैलती हैं। चैतन्य-केन्द्र की प्रेक्षा से जो चैतन्य-केन्द्र जागृत होता है, उसी से अतींद्रियज्ञान की प्रकाश-रश्मियां बाहर पैलती है। अतीद्रियज्ञान की दोनो प्रकार की उपलब्धिया ध्यान के दो भिन्न-कोटिक अभ्यासो पर निर्भर है। जिस व्यक्ति की जैसी श्रद्धा, रुचि, शक्ति और धृति होती है वह उसी पद्धति का चुनाव कर लेता है--कोई सपूर्ण शरीर प्रेक्षा का और कई चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा का।

प्रेक्षाध्यान की निष्पत्ति

प्रेक्षाध्यान से दो कार्य निष्पन्न होते है--

१ करण-निष्पत्ति।

२ आवरण-विशुद्धि।

जहा अवधान नियोजित होता है वह शरीर-भाग अवधिज्ञान के लिए 'करण' या माध्यम बन जाता है। प्रेक्षाध्यान का अवधान राग-द्वेष रहित, समभावपूर्ण होता है, उससे ज्ञान और दर्शन का आवरण विशुद्ध होता है। आवरण के विशुद्ध होने पर जानने की क्षमता बढ़ती है और शरीर-भाग के विशुद्ध होने पर उस विकसित ज्ञान को शरीर से बाहर फैलने का अवसर मिलता है। आवरण की विशुद्धि सपूर्ण चैतन्य मे होती है, किंतु उसका प्रकाश शरीर-प्रदेशो को करण बनाए बिना बाहर नही जा सकता। विद्युत्-प्रवाह होने पर भी यदि बल्ब न हो तो उसका प्रकाश नही होता। ठीक यही बात ज्ञान पर लागू होती है। आवरण की विशुद्धि होने पर चैतन्य का प्रवाह उपलब्ध हो जाता है, फिर भी शरीर प्रदेश की विशुद्धि हुए बिना वह बाह्य अर्थ को नही जान सकता, प्रकाशित नही कर सकता। इसलिए ज्ञान के क्षेत्र मे आवरण-विशुद्धि और करण-विशुद्धि--ये दोनो आवश्यक होती है।

केन्द्र और सवादी केन्द्र

चैतन्य-केन्द्र हमारे स्थूल मे होते है। नाभि, हृदय, कठ, नासाग्र, भृकुटि,

तालु, सिर–ये चैतन्य-केन्द्र है। आवरण की विशुद्धि होने पर ये जागृत हो जाते हैं, निर्मल हो जाते है, और अतीद्रिय ज्ञान की अभिव्यक्ति के माध्यम बन जाते है। हमारे शरीर मे कुछ ग्रथिया है। उनमे भी विशिष्ट क्षमता है। वे भी परिष्कृत होने पर अतीद्रिय ज्ञान की माध्यम बन जाती हैं। इन ज्ञात चैतन्य-केन्द्रो के अतिरिक्त स्थूल शरीर के ऐसे अन्य परमाणु-स्कध है जो अतीद्रिय ज्ञान के माध्यम बनते है। परिष्कृत या निर्मल बने हुए परमाणु-स्कधो को स्थूल शरीर मे देखा नही जा सकता। इसीलिए इन चैतन्य-केन्द्रो के विषय मे विचार-भिन्नता मिलती है। कुछ लोग इनकी उपस्थिति प्राण-शरीर मे मानते है और कुछ वासना-शरीर मे। ये उन दोनो मे हो सकते है, किंतु प्राण और वासना मे होने वाले केन्द्रो के सवादी केन्द्र यदि स्थूल शरीर मे न हो तो ज्ञान को अभिव्यक्ति नही मिल सकती। इद्रियज्ञान के केद्र सूक्ष्म शरीर मे होते है और उनके सवादी केद्र हमारे स्थूल शरीर मे होते है, तभी भीतर की ज्ञान-रश्मिया बाह्य जगत मे आती है। इन चैतन्य-केन्द्रो पर भी यही नियम लागू होता है।

ये चैतन्य-केन्द्र नाभि से ऊपर के भाग मे होते है। ये केन्द्र विशद होते है। कुछ चैतन्य-केन्द्र नीचे भी होते है, वे अविशद होते है, इसलिए आध्यात्मिक उत्क्रमण करने वालो के वे नही होते।

जैसे इद्रियो के आकार नियत होते है वैसे चैतन्य-केन्द्र एक ही आकार के नही होते। वे अनेक आकार के होते है। जो आकार बतलाए गए है उनसे भी भिन्न आकार के हो सकते है।

चैतन्य केन्द्र जागृति कब, कैसे ?

चैतन्य-केन्द्र किसी-किसी व्यक्ति के शीघ्र जागृत हो जाते है और कोई व्यक्ति बहुत प्रयत्न करके भी उन्हे जागृत नही कर पाता या बहुत दीर्घकालीन ध्यान के द्वारा कर पाता है। इसका हेतु है–आवरण की सघनता और विरलता। जो व्यक्ति अतीतकाल मे ध्यान का अभ्यास कर चुका, उससे जिसका आवरण विरल हो चुका, वह थोड़े से ध्यानाभ्यास के द्वारा अपने चैतन्य-केन्द्र को जागृत कर लेता है। जो व्यक्ति वर्तमान मे ही ध्यान का अभ्यास प्रारभ करता है, जिसका आवरण सघन है, वह हो सकता है कि

दीर्घकालीन ध्यानाभ्यास के बाद चैतन्य केन्द्रो को जागृत कर पाए और यह भी हो सकता है कि वह अपने वर्तमान जीवन मे चैतन्य-केन्द्रो को पूरा जागृत करने मे सफल न हो पाए। इसका अर्थ शुद्ध ध्यान और शुद्ध लेश्या की व्यर्थता नही है। इनके अभ्यास से चैतन्य-केन्द्र जागृत होते ही हैं, किंतु जिस मात्रा मे जागृति होनी चाहिए और उनके माध्यम से जो विशिष्ट ज्ञान-रश्मिया बाहर फूटनी चाहिए, वे उनके पूर्ण जागृत होने पर ही सभव हो सकती हैं।

तेजोलेश्या (कुंडलिनी)

तैजस शरीर अनुग्रह-निग्रह का साधन

हम शरीरधारी है। शरीर दो प्रकार के है–स्थूल और सूक्ष्म। अस्थि-चर्ममय शरीर स्थूल है। तैजस शरीर सूक्ष्म और कर्म-शरीर अति सूक्ष्म है। हमारे पाचन, सक्रियता और तेजस्विता का मूल तैजस शरीर है। वह पूरे स्थूल शरीर मे व्याप्त रहता है तथा दीप्ति और तेजस्विता उत्पन्न करता है। विद्युत्, प्रकाश और ताप–ये तीनो शक्तिया उसमे विद्यमान है। शरीर मे दो प्रकार की विद्युत् है– घार्षणिक और धारावाही या मानसिक। घार्षणिक विद्युत् का उत्पादन शरीर करता है और धारावाही विद्युत् का उत्पादन मस्तिष्क करता है। मस्तिष्कीय विद्युत्धारा स्नायु-मडल मे सचरित रहती है। वह ज्ञान-ततुओ के द्वारा मस्तिष्क तक सूचना पहुचाती है और उससे मिले निर्देशो का शारीरिक अवयवो द्वारा क्रियान्वयन कराती है। इसका मूल हेतु तैजस शरीर है। यह शरीर प्राणिमात्र के साथ निरतर रहता है। एक प्राणी मृत्यु के उपरान्त दूसरे जन्म मे जाता है। उस समय अन्तराल गति मे भी तैजस शरीर उसके साथ रहता है। कर्म-शरीर सब शरीरो का मूल है। उसके बाद दूसरा स्थान तैजस शरीर का है। यह सूक्ष्म पुद्गलो से निर्मित होता है, इसलिए चर्म-चक्षु से दृश्य नही होता। यह स्वाभाविक भी होता है और तपस्या द्वारा उपलब्ध भी होता है। यह तप द्वारा उपलब्ध तैजस शरीर ही तेजोलेश्या है। इसे तेजोलब्धि

भी कहा जाता है । स्वाभाविक तैजस शरीर सब प्राणियो मे होता है । तपस्या से उपलब्ध होने वाला तैजस शरीर सबसे नही होता । वह तपस्या से उपलब्ध होता है । इसका तात्पर्य यह है कि तपस्या से तैजस शरीर की क्षमता बढ जाती है । स्वाभाविक तैजस शरीर स्थूल शरीर से बाहर नहीं निकलता । तपोजनित तैजस शरीर शरीर के बाहर निकल सकता है । उसमे अनुग्रह और निग्रह की शक्ति होती है । उसके बाहर निकलने की प्रक्रिया का नाम तैजस समुद्घात है । जब वह किसी पर अनुग्रह करने के लिए बाहर निकलता है तब उसका वर्ण हस की भाति सफेद होता है । वह तपस्वी के दाए कधे से निकलता है । उसकी आकृति सौम्य होती है । वह लक्ष्य का हित-साधन कर (रोग आदि का उपशमन कर) फिर अपने मूल शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है ।

जब वह किसी का निग्रह करने के लिए बाहर निकलता है तब उसका वर्ण सिन्दूर जैसा लाल होता है । वह तपस्वी के बाए कधे से निकलता है , उसकी आकृति रौद्र होती है । वह लक्ष्य का विनाश, दाह कर फिर अपने मूल शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है ।

अनुग्रह करने वाली तेजोलेश्या को 'शीत', और निग्रह करने वाली तेजोलेश्या को 'उष्ण' कहा जाता है । शीतल तेजोलेश्या उष्ण तेजोलेश्या के प्रहार को निष्फल बना देती है ।

तेजोलेश्या अनुपयोग काल मे सक्षिप्त और उपयोग काल मे विपुल हो जाती है । विपुल अवस्था मे वह सूर्यबिम्ब के समान दुर्द्धर्ष होती है । वह इतनी चकाचौध पैदा करती है कि मनुष्य उसे खाली आखो से देख नही सकता । तेजोलेश्या का प्रयोग करने वाला अपनी तेजस्-शक्ति को बाहर निकालता है तब वह महाज्वाला के रूप मे विकराल हो जाती है ।

तेजोलेश्या का स्थान

तैजस शरीर हमारे समूचे स्थूल शरीर मे रहता है । फिर भी उसके दो विशेष केन्द्र है—मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग । मन और शरीर के बीच सबसे बड़ा सबध-सेतु मस्तिष्क है । उससे तैजस शक्ति (प्राणशक्ति या विद्युत् शक्ति) निकलकर शरीर की सारी क्रियाओ का सचालन करती है । नाभि

के पृष्ठभाग मे खाए हुए आहार का प्राण के रूप में परिवर्तन होता है। अत शारीरिक दृष्टि से मस्तिष्क और नाभि का पृष्ठभाग—ये दोनो तेजोलेश्या के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जाते हैं। यह तेजोलेश्या एक शक्ति है। इसे हम नहीं देख पाते। इसके सहायक परमाणु-पुद्गल सूक्ष्मदृष्टि से देखे जा सकते हैं। ध्यान करने वालो को उनका यत्किचित् आभास होता रहता है।

तेजोलेश्या और प्राण

तेजोलेश्या प्राणधारा है। हमारे शरीर मे अनेक प्राणधाराए है। इन्द्रियो की अपनी प्राणधारा है। मन, शरीर और वाणी की अपनी प्राणधारा है। श्वास-प्रश्वास और जीवनी-शक्ति की भी स्वतत्र प्राणधाराए हैं। हमारे चैतन्य का तैजस शरीर के साथ योग होता है और प्राण-शक्ति बन जाती है। सभी प्राणधाराओ का मूल तैजस शरीर है। इन प्राणधाराओ के आधार पर शरीर की क्रियाओ और विद्युत् आकर्षण के सबध का अध्ययन किया जा सकता है।

प्राण की सक्रियता से मनुष्य के मन मे अनेक प्रकार की वृत्तिया उठती है और जब तक तेजोलेश्या से आनन्दात्मक स्वरूप का विकास नही होता तब तक वे उठती ही रहती है। कुछ लोग वायु-सयम से उन्हे रोकने का प्रयत्न करते है। यह उनके निरोध का एक उपाय अवश्य है, कितु वायु-सयम (या कुभक) एक कठिन साधना है। उसमे बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। कही थोडी-सी असावधानी हो जाती है अथवा योग्य गुरु का पथ-दर्शन नही मिलता है तो कठिनाइया बढ़ जाती है। मन सयम से चित्तवृत्तियो का निरोध करना निर्विघ्न मार्ग है। इसकी साधना कठिन है, पर यह इसका सर्वोत्तम उपाय है। प्रेक्षाध्यान के द्वारा इसकी कठिनता को मिटाया जा सकता है। चित्त की प्रेक्षा चित्तवृत्तियो के निरोध का महत्त्वपूर्ण उपाय है।

तेजोलेश्या के विकास-स्रोत

तेजोलेश्या के विकास का कोई एक ही स्रोत नही है। उसका विकास अनेक स्रोतो से किया सकता है। सयम, ध्यान, वैराग्य, भक्ति, उपासना, तपस्या आदि-आदि उसके विकास के स्रोत है। इन विकास-स्रोतो की पूरी

जानकारी लिखित रूप कही भी उपलब्ध नही होती। यह जानकारी मौलिक रूप मे आचार्य शिष्य को स्वय देते थे।

गोशालक ने महावीर से पूछा–'भते! तेजोलेश्या का विकास कैसे हो सकता है?' महावीर ने इसके उत्तर मे उसे तेजोलेश्या के एक विकास-स्रोत का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा–'जो साधक निरतर दो-दो उपवास करता है, पारणा के दिन मुट्ठीभर उड़द या मूग खाता है और एक चुल्लू पानी पीता है, भुजाओ को ऊची कर सूर्य की आतापना लेता है, वह छह महीनो के भीतर ही तेजोलेश्या को विकसित कर लेता है।'

तेजोलेश्या के तीन विकास-स्रोत हैं–

१ आतापना–सूर्य के ताप को सहना।

२ क्षाति-क्षमा–समर्थ होते हुए भी क्रोध-निग्रहपूर्वक व्यवहार को सहन करना।

३ जल-रहित तपस्या करना।

इनमे केवल 'क्षातिक्षमा' नया है। शेष दो उसी विधि के अग है जो विधि महावीर ने गोशालक को सिखाई थी। तेजोलेश्या के निग्रह-अनुग्रह स्वरूप के विकास के स्रोतो की यह सक्षिप्त जानकारी है। उसका जो आनन्दात्मक स्वरूप है उसके विकास-स्रोत भावात्मक तेजोलेश्या की अवस्था मे होने वाली चित्तवृत्तिया है। चित्तवृत्तियो की निर्मलता के बिना तेजोलेश्या के विकास का प्रयत्न खतरो को निमत्रित करने का प्रयत्न है। वे खतरे शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक–तीनो प्रकार के हो सकते है।

जो साधना के द्वारा तेजोलेश्या को प्राप्त कर लेता है वह सहज आनन्द की अनुभूति मे चला जाता है। इस अवस्था मे विषय-वासना और आकाक्षा की सहज निवृत्ति हो जाती है। इसीलिए इस अवस्था को 'सुखासिका' (सुख मे रहना) कहा जाता है। विशिष्ट ध्यान-योग की साधना करने वाला एक वर्ष मे इतनी तेजोलेश्या को उपलब्ध होता है कि उससे उत्कृष्टतम भौतिक सुखो की अनुभूति अतिक्रान्त हो जाती है। उस साधक को इतना सहज सुख प्राप्त होता है जो किसी भी भौतिक पदार्थ से प्राप्त नही हो सकता।

तेजोलेश्या के दो रूप

हम चैतन्य और परमाणु पुद्गल—दोनो को साथ-साथ जी रहे है। हमारा जगत् न केवल चैतन्य का जगत् है और न केवल परमाणु-पुद्गल का। यह दोनो के सयोग का जगत् है। चैतन्य की शक्ति से परमाणु-पुद्गल सक्रिय होते है और परमाणु-पुद्गलो की सक्रियता से चैतन्य की उनके अनुरूप परिणति होती है। इस नियम के आधार पर तेजोलेश्या के दो रूप बनते है—भावात्मक और पुद्गलात्मक। भावात्मक तेजोलेश्या चित्त की विशिष्ट परिणति या चित्तशक्ति है। इस तेजोलेश्या वाले व्यक्ति का चित्त नम्र, अचपल और ऋजु हो जाता है। उसके मन मे कोई कुतूहल नही होता। उसकी इन्द्रिया सहज शात हो जाती है। वह योगी (समाधि-सपन्न) और तपस्वी होता है। उसे धर्म प्रिय होता है। वह धर्म का कभी अतिक्रमण नही करता।

पुद्गलात्मक तेजोलेश्या के वर्ण, गध, रस और स्पर्श विशिष्ट प्रकार के होते है। उसका वर्ण हिगुल, बाल सूर्य या प्रदीप की शिखा के समान लाल होता है। उसका रस पके हुए आम्रफल के रस से अत्यधिक मधुर होता है। उसका गध सुरभि कुसुम से अत्यधिक सुखद होता है। उसका स्पर्श नवनीत या शिरीष कुसुम से भी अधिक मृदु होता है।

तेजोलेश्या और अतीन्द्रिय ज्ञान

तेजोलेश्या और अतीन्द्रिय ज्ञान का परस्पर सबध है। अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास ज्ञानावरण के विलय से होता है। वह तेजोलेश्या से नही होता। उसकी अभिव्यक्ति तेजोलेश्या से होती है। तेजस्, पद्म और शुक्ल लेश्या की विचारधारा होती है, अध्यावसाय शुद्ध होता है तब ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है और अतीन्द्रिय ज्ञान की शक्ति उपलब्ध हो जाती है। किंतु उसका उपयोग चैतन्य-केन्द्र और शक्ति-सस्थानो के माध्यम से होता है। कोई अवधिज्ञानी अपने ज्ञान का प्रयोग शरीर के किसी एक भाग से या समूचे शरीर से—दोनो प्रकार से करता है। तेजोलेश्या की विद्युत्धारा जिस शक्ति-सस्थान या चैतन्य-केन्द्र पर पड़ती है, वह उपलब्ध क्षमताओ की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है। विद्युत् जिस प्रकार अपना चुम्बकीय क्षेत्र (Magnetic field)बनाती है, वैसे ही तेजोलेश्या एक चुम्बकीय स्थान का निर्माण करती

है। वही क्षेत्र अवधिज्ञान के प्रस्फुटित होने का माध्यम बनता है। तेजोलेश्या की विद्युत्धारा से शक्ति-सस्थान या चैतन्य-केन्द्र जागृत होते है, इसका तात्पर्य चुम्बकीय क्षेत्र के निर्माण से है, ज्ञान के अनावरण से नही।

जैन योग मे कुडलिनी

योग की उपयोगिता जैसे-जैसे बढ़ती जा रही है, वैसे-वैसे उस विषय मे जिज्ञासाए भी बढ़ती जा रही है। योग की चर्चा मे कुडलिनी का सर्वोपरि महत्त्व है। बहुत लोग पूछते है कि जैन योग मे कुडलिनी सम्मत है या नही ? यदि वह एक वास्तविकता है तो फिर कोई भी योग-परपरा उसे अस्वीकृत कैसे कर सकती है ? वह कोई सैद्धान्तिक मान्यता नही है, किंतु एक यथार्थ शक्ति है। उसे अस्वीकृत करने का प्रश्न ही नही हो सकता।

जैन परम्परा के प्राचीन साहित्य मे कुडलिनी का प्रयोग नही मिलता। उत्तरवर्ती साहित्य मे इसका प्रयोग मिलता है। वह तत्रशास्त्र और हठयोग का प्रभाव है। आगम और उसके व्याख्या साहित्य मे कुडलिनी का नाम तेजोलेश्या है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि हठयोग मे कुडलिनी का जो वर्णन है उसकी तुलना तेजोलेश्या से की जा सकती है। अग्नि-ज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पद्गलो के योग से होने वाली चैतन्य की परिणाति का नाम तेजोलेश्या है। यह तप की विभूति से होने वाली तेजस्विता है।

आंतरिक उपलब्धियां

ऋद्धि और लब्धि

ध्यान, तप और भावना—ये तीनो शक्ति के स्रोत है । इनके द्वारा वीतरागता उपलब्ध होती है, चैतन्य का शुद्ध स्वरूप उपलब्ध होता है, मोक्ष उपलब्ध होता है । इनकी धारा जिस दिशा मे प्रवाहित होती है, वही दिशा उद्घाटित हो जाती है । इनसे साधक को अनेक प्रकार की ऋद्धिया या लब्धिया भी प्राप्त होती है । ये सामान्य व्यक्ति मे नही होती, इसलिए इन्हे अलौकिक या लोकोत्तर कहा जाता है । कुछ लोग इन्हे चमत्कार मानते है । पूर्वाभास, दूरबोध, वस्तुओ का इच्छाशक्ति से निर्माण और परिचालन, स्पर्श से भयानक बीमारियो को मिटाना—ये सब चमत्कार जैसे लगते है । चमत्कार का खडन करने वालो का कहना है कि ये बाते नही हो सकती । ये प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध है । जिन लोगो ने ध्यान के क्षेत्र मे अभ्यास किया है वे लोग इस चमत्कारवाद को स्वीकार नही करते । उनका अभिमत है कि ये सब चमत्कार नही है । ये सारी घटनाए प्राकृतिक नियमो के आधार पर ही घटित होती है । जिन लोगो को इन विषयो मे प्राकृतिक नियमो का ज्ञान नही है वे ही इन्हे चमत्कार कह सकते है । ध्यान की परपरा हजारो वर्ष पुरानी है । ध्यान के आचार्यो ने अनेक प्राकृतिक नियमो की खोज की है । यह जो कुछ घटित होता है, वह प्राकृतिक नियमो का उल्लघन नही है, किंतु प्रकृति के सूक्ष्म

नियमो का अवबोध है। रेडियो-तरगो के सचार-क्रम के नियमो को नही जानने वाला दूर-श्रवण को चमत्कार मान सकता है। उसकी दृष्टि में दूर-दर्शन भी एक चमत्कार ही है। किंतु एक वैज्ञानिक के लिए वह कोई चमत्कार नही है। 'क्ष' किरणो के द्वारा ठोस वस्तु के पार देखा जा सकता है तब पार-दर्शन की शक्ति को चमत्कार कैसे माना जाए ? हम इस तथ्य को अस्वीकार नही करेगे कि मनुष्य के शरीर मे अनेक रासायनिक द्रव्य है। वे विविध सयोगो मे बदलते रहते है। भावना के द्वारा शारीरिक विद्युत् और रासायनिक द्रव्यो मे परिवर्तन होता है। ध्यान और तपस्या के द्वारा भी ऐसा घटित होता है। इन आतरिक परिवर्तनो की रसायनशास्त्र के नियमो द्वारा व्याख्या की जा सकती है। रसायनशास्त्र के सब नियम ज्ञात हो चुके है—यह नही कहा जा सकता। ऐसे अनेक नियम हो सकते है जो आज भी ज्ञात नही है। सब नियम ज्ञात हो जाएगे, यह गर्वोक्ति सुदूर भविष्य मे भी नही की जा सकती। इस स्थिति मे जिन आतरिक ऋद्धियो को हम चमत्कार की सज्ञा देते है, इसकी अपेक्षा उचित यह होगा कि उन्हे हम प्रकृति के सूक्ष्म नियमो की जानकारी के फलित की सज्ञा दे। इन ऋद्धियो को आध्यात्मिक कहना भी बहुत सगत नही लगता। कुछेक ऋद्धिया आध्यात्मिक हो सकती है, जैसे—केवलज्ञान। किंतु ऋद्धिया आध्यात्मिक नही है। बहुत सारी पौद्गलिक या भौतिक है। वे अन्तर्जगत मे या आतरिक साधनो से उपलब्ध होती है, इसलिए उन्हे अलौकिक कहा जा सकता है किंतु अपौद्गलिक या आध्यात्मिक नही कहा जा सकता।

सही दिशा

दो साधक एक बार मिले। एक को जल पर बैठने की सिद्धि प्राप्त थी। उसने कहा—"आओ, जल पर बैठे।' दूसरे को आकाश मे बैठने की सिद्धि प्राप्त थी। उसने कहा—'आओ, आकाश मे ही बैठे।' अपनी बात को मोड़ देते हुए उसने फिर कहा—'जल पर बैठने मे क्या बड़ी बात होगी ? मछलिया उसी मे रहती है। आकाश मे बैठने का क्या महत्त्व होगा ? पक्षी आकाश मे ही रहते है। महत्त्व की बात यह होगी कि हम अध्यात्म का और

अधिक विकास करे, समभाव को बढ़ाए और वीतरागता की दिशा मे गतिशील बने ।'

ध्यान से मनुष्य दो दिशाओ मे गतिशील होता है । एक दिशा है वीतरागता की और दूसरी दिशा है ऋद्धियो की । वीतरागता आध्यात्मिक उपलब्धि है और ऋद्धि चैतन्य और पुद्गल के सयोग से होने वाली उपलब्धि है । वह ध्यान-साधना के प्रासगिक फलस्वरूप मे भी होती है और ध्यान, भावना आदि को विशेष दिशा मे प्रवाहित करने पर भी होती है । वह पौद्गलिक इसलिए है कि वनौषधि से भी उपलब्ध होती है । सभी ऋद्धिया वनौषधि से प्राप्त नही होती, कुछेक होती हैं । फिर भी वनौषधि से वे प्राप्त होती है इसलिए वे पौद्गलिक है । वचन-सिद्धि ध्यान-भावना आदि से भी प्राप्त होती है और वनौषधि के प्रयोग से भी प्राप्त होती है । दूरदर्शन, पूर्वजन्म की स्मृति आदि ऋद्धिया वनौषधि से भी उपलब्ध होती है । इसलिए वे पौद्गलिक है । वे मत्र-साधना के द्वारा भी प्राप्त होती हैं । ध्वनि के स्पदन और उससे उत्पन्न होने वाली विद्युत् से शरीर और मन मे अनेक परिवर्तन होते है । उनमे मत्र, औषधि आदि ऋद्धिया उपलब्ध होती है । यह भी आध्यात्मिक या अपौद्गलिक प्रक्रिया नही है । केवलज्ञान किसी मत्र, औषधि आदि साधन से उपलब्ध नही होता । वह केवल वीतरागता सिद्ध होने पर ही उपलब्ध होता है । इसलिए वह पूर्ण आध्यात्मिक है ।

संयम और लब्धि

कुछ आधुनिक साधको का अभिमत है कि ध्यान-साधना के लिए सयम अनिवार्य नही है । वह ध्यान-साधना से स्वत प्राप्त होता है । पहले सयम करे और फिर ध्यान अभ्यास—यह पौर्वापर्य अपेक्षित नही है । सयम ध्यान का कारण नही, उसका फलित है । यह विचार सर्वथा असगत नही है । ध्यान से सयम फलित होता है, यह एक सचाई है । किंतु सयम की साधना के बिना, राग-द्वेष की धारा को सयत किए बिना, ध्यान की साधना की जाती है, उससे अनेक हानिया भी होती है । ध्यान से जो ऊर्जा प्राप्त होती है वह राग-द्वेष की धारा से जुड़कर अनेक अनाचरणीय कर्म मे प्रवृत्त हो जाती है ।

तपस्वियो द्वारा अभिशाप और वरदान देने की घटनाओ से इस तथ्य

की पुष्टि होती है। क्रोध जब शात या क्षीण नहीं है तब शक्ति प्राप्त होगी तो उसका दुष्परिणाम कैसे नही होगा ? जिसकी वासना शात नहीं है वह शक्ति को उपलब्ध होकर आनाचार में प्रवृत्त कैसे नहीं होगा ? ऐसे साधक भी मिलेंगे जो हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत नहीं है और ऋद्धि को उपलब्ध हैं। इसका फलित यह है कि वह ऋद्धि आध्यात्मिक नहीं है और वह आध्यात्मिक नहीं है इसीलिए जिसमे अहिसा आदि सदाचार का बीज उप्त नहीं है उसे भी वह उपलब्ध हो जाती है। असयमी को ऋद्धि उपलब्ध होती है और वह उसका दुरुपयोग करता है। भगवान् महावीर ने सयम को प्रथम स्थान दिया और ध्यान को दूसरा। जो साधक सयम के द्वारा नये कर्मों का संवर नही करता, जिसके चित्त मे प्राणिमात्र के प्रति मैत्री की भावना अकुरित नही होती, जो सत्य के प्रति समर्पित नही होता, जिसका चित्त अनासक्त नही होता, उसमे वीतरागभाव का विकास नहीं हो सकता। जिसमे वीतराग-भाव का विकास नही होता, उसे आत्मा उपलब्ध नही होता। आत्मा की उपलब्धि के लिए वीतराग-भाव जरूरी है। वीतराग-भाव की सिद्धि के लिए समभाव की साधना जरूरी है। समभाव की सिद्धि के लिए सयम जरूरी है। सयम का अर्थ है-- अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की साधना। सयम की सिद्धि के लिए भी मानसिक, वाचिक और कायिक—तीनो प्रकार का ध्यान आवश्यक है। इसीलिए मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—इन तीनो गुप्तियो या त्रिविध ध्यान का अभ्यास सयम के साथ शृखलित है। गुप्ति की साधना के बिना सयम की साधना नहीं हो सकती, किंतु ऋद्धि की दिशा मे प्रवाहित होने वाली ध्यान की धारा साधक को तब तक उपलब्ध नहीं करानी चाहिए जब तक उसका संयम सिद्ध न हो जाये। व्यवहार सूत्र का एक विधान है कि जो मुनि चौदह वर्षों तक संयम की साधना कर चुका वह 'स्वप्नभावना' को पढ़ सकता है। पद्रह वर्ष के बाद 'चारण भावना', सोलह वर्ष के बाद 'तेजोनिसर्ग', सतरह वर्ष के बाद 'आशीविष भावना' और अठारह वर्ष के बाद 'दृष्टिविष भावना' का अध्ययन कर सकता है। इन ग्रथो मे विशिष्ट ऋद्धियो की साधना-पद्धति प्रतिपादित थी। जिसका सयम सिद्ध नहीं होता वह इनका अध्ययन कर ऋद्धियो का दुरुपयोग कर

सकता था, इसलिए उक्त विधान किया गया ।

मोक्ष के लिए ऋद्धि की प्राप्ति की अनिवार्यता नहीं है । जो साधक वीतराग हो जाते है, वे कैवल्य को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं । उन्हें तेजोलब्धि आदि ऋद्धिया उपलब्ध हो या न हो । ऋद्धियों को प्राप्त साधक भी मुक्त हो सकते हैं, 'यदि वे उनका प्रयोग न करे, उनके ध्यान की धारा वीतरागता की दिशा में ही प्रवाहित रहे ।

ऋद्धि है चमत्कार

अध्यात्म के क्षेत्र मे जो मूल्य वीतरागता का है वह ऋद्धि का नही है । सामान्य मनुष्य ऋद्धि को ही साधना की उपलब्धि मानते हैं । वे साधक से पूछते हैं–'इतने वर्ष साधना की, आपको क्या उपलब्ध हुआ ?' साधक का यह उत्तर हो कि मुझे समभाव उपलब्ध हुआ तो वे सोचेगे कि इसे कुछ भी उपलब्ध नही है । यदि कोई साधक कहे कि मुझे जल पर चलने या भूमि से ऊपर उठने की सिद्धि उपलब्ध हुई है तो वे उस साधक को बहुते सम्मान देगे । जल पर चलने या भूमि से ऊपर उठने का स्वय उसके लिए और दर्शको के लिए कोई विशेष मूल्य नही है । केवल एक चमत्कार है । हर आदमी नही कर सकता और वह कर सकता है, इसलिए एक असाधारण कार्य है । सभी ऋद्धिया मूल्यहीन नही है । कुछ बहुत मूल्यवान है । उनका सही उपयोग किया जाए तो वे साधक को अध्यात्म की दिशा मे गतिशील करती हैं ।

समभाव का अर्थ है–मन की शाति, समता और सतुलन । उसका मूल्य ऋद्धि से बहुत अधिक है । जिसे वह उपलब्ध होता है उसका मन समस्याओ से मुक्त हो जाता है । कोई मनुष्य इस जगत् मे जीये और उसका मन समस्याओ से मुक्त हो, यह कितनी बड़ी उपलब्धि है ! यह उस व्यक्ति को भी प्राप्त नही होती, जो ऋद्धि को प्राप्त कर चुकता है । शासन-सत्ता और प्रचुर वैभव प्राप्त करने वाले व्यक्ति भी मन की समस्या से मुक्त नही होते । उस स्थिति मे एक साधक मानसिक समस्या से मुक्त हो जाता है, क्या यह सबसे बड़ी उपलब्धि नही है ? फिर भी जिनकी दृष्टि आध्यात्मिक नही होती वे ऋद्धि को उपलब्धि मानते है, समभाव को उपलब्धि नही मानते ।

ऋद्धियां · प्राप्ति और परिणाम

ऋद्धि की उपलब्धि के अनेक साधन है–विद्या, मत्र, तत्र, तपस्या, भावना और ध्यान। इनकी प्रायोगिक पद्धति प्राय लुप्त हो चुकी है। फिर भी उसके कुछ बीज आज भी सुरक्षित है।

कुछ प्रमुख ऋद्धिया इस प्रकार है–

१ केवलज्ञान–पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान।

२ अवधिज्ञान–आशिक अतीन्द्रिय ज्ञान।

३ मन पर्यवज्ञान–मानसिक अवस्थाओ का ज्ञान।

४ बीजबुद्धि–एक बीज-पद को प्राप्त कर उसके सहारे अनेक पदो और अर्थो को जानने की क्षमता।

५ कोष्ठबुद्धि–गृहीत पद और अर्थ की ध्रुव-स्मृति।

६ पदानुसारित्व–एक पद के आधार पर पूरे श्लोक या सूत्र को जानने की क्षमता।

७ सभिन्नस्रोत– (१) किसी भी एक इन्द्रिय के द्वारा सभी इन्द्रियो के विषयो को जानने की क्षमता।
(२) सब अगो से सुनने की क्षमता।
(३) अनेक शब्दो को एक साथ सुनने और उनका अर्थबोध करने की क्षमता।

८ दूर-आस्वादन–दूर से आस्वाद लेने की क्षमता।

९ दूर-दर्शन–दूरस्थ विषयो को देखने की क्षमता।

१० दूर-स्पर्शन–दूरस्थ विषयो का स्पर्श करने की क्षमता।

११ दूर-घ्राण–दूरस्थ गध को सूघने की क्षमता।

१२ दूर-श्रवण–दूरस्थ गध को सुनने की क्षमता।

१३ चारण और आकाशगामित्व–

- जघा-चारण–सूर्य की रश्मियो का आलबन ले आकाश मे उड़ने की क्षमता। एक ही उड़ान मे लाखों योजन दूर तथा हजारो योजन ऊचा चला जाना।
- व्योम-चारण–पद्मासन की मुद्रा मे आकाश मे उड़ने की क्षमता।

- जल-चारण—जल के जीवो को कष्ट दिए बिना समुद्र आदि जलाशयो पर चलने की क्षमता ।
- पुष्प-चारण—वनस्पति को कष्ट दिए बिना फूलो के सहारे चलने की क्षमता ।
- श्रेणी-चारण—पर्वतो के शिखरो पर चलने की क्षमता ।
- अग्निशिखा-चारण—अग्नि की शिखा का आलबन ले चलने की क्षमता ।
- धूम-चारण—धूम की पक्ति के सहारे उड़ने की क्षमता ।
- मर्कटततु-चारण—मकड़ी के जाल का सहारा ले चलने की क्षमता ।
- ज्योतिरश्मि-चारण—सूर्य, चाद या अन्य किसी ग्रह-नक्षत्र की रश्मियो को पकड़कर ऊपर जाने की क्षमता ।
- वायु-चारण—हवा के सहारे ऊपर उड़ने की क्षमता ।
- जलद-चारण—मेघ के सहारे चलने की क्षमता ।

१४ आमर्ष-औषधि—हस्त, पाद आदि के स्पर्श से व्याधि के अपनयन की क्षमता ।

१५ क्ष्वेलौषधि—थूक से व्याधि के अपनयन की क्षमता ।

१६ जल्लौषधि—मेल से व्याधि के अपनयन की क्षमता ।

१७ मलौषधि—कान, दात आदि के मल से व्याधि के अपनयन की क्षमता ।

१८ विप्रुडौषधि—मल-मूत्र से व्याधि के अपनयन की क्षमता ।

१९ सर्वौषधि—शरीर के सभी अग, प्रत्यग, नख, दत आदि से व्याधि के अपनयन की क्षमता ।

जिसे ये औषधि-ऋद्धिया (१४ से १९) प्राप्त होती है, उसके अवयवो मे रोग को दूर करने की क्षमता विकसित हो जाती है और उसके थूक, मेल, मल, मूत्र आदि सुरभित हो जाते है ।

२० आस्यविष—वाणी के द्वारा दूसरे मे विष व्याप्त करने की क्षमता ।

२१ दृष्टिविष—दृष्टि के द्वारा दूसरे मे विष व्याप्त करने की क्षमता ।

२२ क्षीरास्रवी–
२३ मध्यास्रवी–
२४ सर्पिरास्रवी
२५ अमृतास्रवी

१ हाथ के स्पर्श मात्र से विरस भोजन को दूध, मधु, घी और अमृत की भाति सरस करने की क्षमता ।

२ दूध, मधु, घी और अमृत की भाति मन को आह्लादित और शरीर को रोमाचित करने की वाचिक क्षमता ।

२६ अक्षीणमहानस–हाथ के स्पर्श मात्र से भोजन को अखूट करने की क्षमता ।

२७ मनोबली–क्षणभर मे विपुल श्रुत और अर्थ के चितन की मानसिक क्षमता ।

२८ बागूबली–ऊचे स्वर से सतत श्रुत का उच्चारण करने पर भी अश्रात रहने की क्षमता ।

२९ कायबली–महीनो तक एक ही आसन मे बैठे या खड़े रहने की क्षमता ।

३० वैक्रिय–इसके अनेक प्रकार है–

(१) अणिमा–शरीर को छोटा बनाने की क्षमता ।

(२) महिमा–शरीर को बड़ा बनाने की क्षमता ।

(३) लघिमा–शरीर को वायु से भी हल्का बनाने की क्षमता ।

(४) गरिमा–शरीर को भारी बनाने की क्षमता ।

(५) अप्रतिघात–ठोस पदार्थो मे भी अस्खलित गति करने की क्षमता ।

(६) कामरूपित्व–एक साथ अनेक रूपो के निर्माण की क्षमता ।

३१ आहारक–एक पुतले का निर्माण कर यथेष्ट स्थान पर भेजने की क्षमता ।

३२ तेजस्–शारीरिक विद्युत के द्वारा अनुग्रह और विग्रह करने की क्षमता । यह हठयोग और तत्रशास्त्र मे प्रसिद्ध कुडलिनी शक्ति है ।

४

प्रयोग और परिणाम

- अहं-विसर्जन अभ्यास-क्रम
- कायोत्सर्ग अभ्यास-क्रम
- संकल्प-शक्ति अभ्यास-क्रम

अहं-विसर्जन : अभ्यास-क्रम

१ **भेदज्ञान का दृढ़ अभ्यास**–'जीवोन्य पुद्‌गलश्चान्य ' जीव अन्य है और शरीर अन्य है–यह भेदज्ञान का मन्त्र है । तन्मयता के साथ इसकी पुनरावृत्ति करने से मोह का सस्कार क्षीण होता है । देहासक्ति शिथिल होती है ।

आप साधना के प्रारभ मे इस भेदज्ञान मत्र का ब्रह्ममुहूर्त, सायकाल और सोने के समय आधे-आधे घटे तक जप करे । इसके अतिरिक्त जब भी समय हो और जब स्मृति मे आए तभी इसका जप करे । इस प्रकार छह माह तक इसका जप करने से सत्य उपलब्ध होता है । उसकी उपलब्धि होने पर अह स्वय विसर्जित हो जाता है ।

२ **आत्मानुभूति का ध्यान-योग**–अह का प्रत्यय देशभिमान के कारण चेतन के मन मे उठता है । अचेतन मे कोई 'अह' का प्रत्यय नही होता । इसका कारण यह है कि अचेतन के पीछे कोई प्रेरणा नही है । देह और मन के पीछे एक प्रेरणा है । उसके आवरण मे छिपी हुई आत्मा हर समय अपने को व्यक्त करने का प्रयत्न करती है, किंतु देह और मन उसके प्रयत्न को पूर्णरूपेण सफल नही होने देते । उस स्थिति मे 'अह' देह और मन के माध्यम से व्यक्त होता है । फलत 'अह' देह और मन से प्रतिबद्ध हो जाता है । जिस मनुष्य मे देहाभिमान विद्यमान है, वह आत्मा के स्वरूप का पदार्थ-

विश्लेषण नही कर सकता । जो साधक देहाभिमान से मुक्त होकर आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है, उनके अनुभव ही उस स्थिति मे सहायक बनते है । आत्मानुभूति का अभ्यास निम्न निर्दिष्ट विधि से किया जा सकता है ।

आप सुखासन मे बैठ जाइए । दोनो नथुनो के नीचे ऊपर के ओठ पर मन को केन्द्रित कीजिए । वहा श्वास के भीतर जाने और बाहर आने को मानस-चक्षु से देखिए । दस मिनट तक इस श्वासक्रिया को चलने दीजिए । उसके पश्चात् अनुभव करिए कि वहा चैतन्य का स्पदन हो रहा है । इस अनुभव मे जितना लम्बा समय लगा सके, उतना ही अनुभव स्पष्ट होता जाएगा ।

जब चैतन्य के स्पदन का स्पष्ट अनुभव होने लगे, तब धारणा को मोड़ देना आवश्यक होगा । आप जिस चैतन्य के स्पदन का अनुभव करते है, वह शुद्ध चैतन्य नहीं है । वह मानस स्तरीय है । आप गहराई मे जाने की धारणा कीजिए और शुद्ध चैतन्य के साक्षात्कार का अनुभव कीजिए । इस भूमिका म इन्द्रिय और मन से अतीत चैतन्य का अनुभव हो सकेगा । साधना का समय लम्बा होना आवश्यक है । मानस स्तर पर आनन्द की उपलब्धि होती है । वहा रुकन का मन भी होता है । पर चैतन्य की शुद्ध भूमिका पर पहुचने के लिए वहा रुकना नही चाहिए । इस चैतन्य की अनुभूति के अभ्यास से इन्द्रियातीत स्थिति प्राप्त हो सकती है । शब्द और स्पर्श होने पर आप उनके ग्रहण से ऊपर उठ सकते है ।

उक्त पद्धति के अनुसार शरीर के अन्य अवयवो मे भी चैतन्याभूति का अभ्यास कीजिए । समग्र शरीर मे चैतन्यानुभूति का उदय होने पर आत्मावलम्बी ध्यान सिद्ध हो जाता है ।

आत्मानुभूति के ध्यान मे कुभक भी सहायक बनता है । आप किसी भी स्थिति मे, बैठे या खड़े, केवल कुभक कर सकते है । आप मानसिक सकल्प कीजिए और उसी के साथ प्राण को स्थिर कर डालिए । कुछ समय तक उसी स्थिति मे रहिए । अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते दो-तीन मिनट के कुभक का अभ्यास कर लीजिए । केवल कुभक रेचक और पूरक के बिना किया जाता है । प्राण सहजभाव से बाहर निकला हुआ हो या भीतर गया हुआ हो—दोनो स्थितियो मे केवल कुभक किया जा सकता है । कुभक प्राणयाम का ही एक अग है ।

इसमें मन लीन हो जाता है। मन को लीन करने की जितनी प्रक्रियाए है, उनसे तात्कालिक लाभ होता है। इस तथ्य को ध्यान मे रखकर कुभक के द्वारा लीन मन को आत्मानुभूति की अजस्र धारा मे प्रवाहित कर देना चाहिए। मन के उन्मूलन की यह श्रेष्ठ प्रक्रिया है। उन्मूलित मन फिर विक्षेप उत्पन्न नही करता। इससे अहवृत्ति स्वय उन्मूलित हो जाती है।

शून्यता का अभ्यास—वैज्ञानिक धातु को ठडा करता जा रहा था। जैसे ही वह परम शून्य के निकट पहुची तो उसने पाया कि प्रतिरोध-शक्ति विलुप्त हो गई है। उसके विलुप्त होने पर प्रतिक्रिया-शून्य असीम शक्ति का स्रोत प्राप्त होने की सभावना बन गई।

हमारे भीतर भी प्रतिरोध-शक्ति है। उसका नाम 'अह' है। इसके रहते हुए परमशून्य तक नही पहुच पाते। इसका विसर्जन होने पर हम प्रतिक्रियाहीन असीम शक्ति के स्रोत मे बदल जाते है। इसी परिवर्तन का नाम—आत्मोदय या अस्तित्व का उदय।

दैहिक स्वरूप मे अस्तित्व का आरोपण, ममकार और दैहिक प्रवृत्ति का विसर्जन करने पर शून्यता सिद्ध होती है। सर्वप्रथम आप कायोत्सर्ग का अभ्यास कीजिए। श्वास को दीर्घ और मन्द कीजिए। इससे दैहिक-शून्यता प्राप्त हो जाएगी। इसके पश्चात् वस्तुओ पर आरोपित ममत्व का विसर्जन कीजिए। इससे मानसिक-शून्यता प्राप्त होगी। फिर अस्तित्व चिन्मय, आनन्दमय और शक्तिमय स्वरूप से तादात्म्य का अनुभव कीजिए। इससे अह का प्रत्यय विलीन हो जाएगा।

अहकार, ममकार और चचलता के विसर्जित होने पर एक असाधारण शून्यता प्राप्त होती है। यह शून्यता मूर्च्छा या निद्रा जैसी शून्यता नही होती। इसमे चैतन्य की अनुभूति तीव्र हो जाती है। यह शून्याशून्य की स्थिति है। इसे निषेध की भाषा मे शून्यता और विधि की भाषा मे तन के चैतन्य के साथ माध्यम-विहीन सपर्क कहा जा सकता है।

कायोत्सर्ग : अभ्यास-क्रम

कायोत्सर्ग (शरीर-विसर्जन) की पहली प्रक्रिया शिथिलीकरण है। यदि आप बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करना चाहते है तो सुखासन मे बैठ जाइए--पालथी बाधकर या अर्द्धपद्मासन या पद्मासन लगाइए। फिर रीढ़ की हड्डी और गर्दन को सीधा कीजिए। यह ध्यान रहे कि उनमे न झुकाव हो और न तनाव हो। शिथिल भी रहे और सीधे सरल भी। अब दीर्घश्वास लीजिए। श्वास को उतना लम्बाइए जितना बिना किसी कष्ट के लम्बा सके। इससे शरीर और मन–दोनो के शिथिलीकरण मे बड़ा सहारा मिलेगा। आठ-दस वार दीर्घश्वास लेने के बाद वह क्रम सहज हो जाएगा। फिर शिथिलीकरण मे मन को लगाइए। स्थिर बैठने से कुछ-कुछ शिथिलीकरण तो अपने आप हो जाता है। अब विचारधारा द्वारा प्रत्येक अवयव को शिथिल कीजिए। मन को उसी अवयव मे टिकाइए, जिसे आप शिथिल कर रहे है। अवयवो को शिथिल करने का क्रम यह रखिए–गर्दन, कधा, छाती, पेट–दाए-बाए, पृष्ठ-भाग, भुजा, हाथ, हथेली, उगली, कटि, टाग, पैर और अगुलि। अब मासपेशियो को शिथिल कीजिए। इस प्रकार अवयवो और मासपेशियो के शिथिलन के बाद स्थूल शरीर से सबध-विच्छेद और सूक्ष्म शरीर से दृढ सबध-स्थापन का ध्यान कीजिए।

सूक्ष्म शरीर दो है--तैजस और कार्मण।

तैजस शरीर विद्युत का शरीर है। उसके साथ सबध स्थापित कर प्रकाश का अनुभव कीजिए। शक्ति और दीप्ति का यह प्रबल माध्यम है।

कार्मण शरीर के साथ सबध स्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास कीजिए ।

इस भूमिका मे ममत्व-विसर्जन हो जाएगा ।

शरीर मेरा है—यह मानसिक भ्राति विसर्जित हो जाएगी ।

यदि आप सोकर कायोत्सर्ग करना चाहते है तो—

१ सीधे लेट जाए ।

२ सिर से लेकर पैर तक के अवयवो को पहले ताने और फिर क्रमश उन्हे शिथिल करे ।

३ दीर्घश्वास ले ।

४ सममात्रा मे श्वास ले ।

५ मन को श्वास-प्रश्वास मे लगा किसी एक विचार पर स्थिर हो जाए । सुप्त कायोत्सर्ग मे दोनो हाथो-पैरो को अलग-अलग रखिए ।

यदि आप खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना चाहते है तो—

१ पैरो के पजो को पीछे से सटाकर और आगे से चार अगुल के अतर से स्थापित कर खड़े हो जाइए ।

२ दोनो हाथो को नीचे की ओर फैला दीजिए ।

३ दीर्घश्वास लीजिए ।

४ मानसिक निरीक्षण के साथ-साथ शरीर के हर अवयव को शिथिल कीजिए और ध्यान मे मग्न हो जाइए ।

कायोत्सर्ग के साथ यथास्थान इन सकल्पों को दोहराइए—

१. शरीर शिथिल हो रहा है ।

२ श्वास शिथिल हो रहा है ।

३ स्थूल शरीर का विसर्जन हो रहा है ।

४ तैजस शरीर प्रदीप्त हो रहा है ।

५ कार्मण शरीर भिन्न हो रहा है ।

६ ममत्व विसर्जन हो रहा है ।

७ मैं आत्मस्थ हो रहा हू ।

संकल्प-शक्ति : अभ्याम-क्रम

मन को किसी एक विचार से पुष्ट करे, दृढ़ निश्चय करे। उसे कुछ क्षणो तक ऊचे स्वर मे बोलकर दोहराए। फिर कुछ क्षणो तक उसे मद स्वर मे दोहराए। फिर उसे मानसिक रूप मे दोहराए। फिर श्वास-सयम कर उसे दोहराए। तत्पश्चात् यह भावना करे कि मस्तिष्क के पिछले भाग से रश्मिया निकल रही है। वे कार्यक्षेत्र मे पहुचकर अपना कार्य कर रही है। सकल्प की पुष्टि के लिए सोने से पूर्व का समय सबसे अच्छा होता है। निद्रा अवस्था मे स्थूल मन सुषुप्त और सूक्ष्म मन सक्रिय होता है। जो बात सूक्ष्म मन तक पहुच जाती है, वह सद्य क्रियान्वित होती है। सकल्प की सफलता के लिए कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) मे अपने सकल्प को दोहराए। श्वास को लेते समय सकल्प को दोहराए। श्वास के रेचन-काल मे उसे नही दोहराना चाहिए।

सयम और सकल्प मे बहुत निकटता है। सकल्प की सिद्धि के लिए सयम के अनेक प्रयोग किए जा सकते है। जैसे–

१ एक घटा सर्दी सहूगा, कष्ट से विचलित नही होऊगा।

२ एक घटा गर्मी सहूगा, कष्ट से विचलित नही होऊगा।

३ एक घटा भूख सहूगा, कष्ट से विचलित नही होऊगा।

४ एक घटा प्यास सहूगा, कष्ट से विचलित नही होऊगा।

इस प्रकार सकल्प-शक्ति के अनेक प्रकार किए जा सकते है।

यदि आप आयुर्वेद से परिचित हो तो जानते होगे कि आठ पुटी अभ्रक

और हजार पुटी अभ्रक मे शक्ति का कितना अतर है। जितनी पुटे होगी, उतनी ही उसकी शक्ति बढ़ जाएगी। औषधियो के प्रकरण से भावना का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। उसी प्रकार मन मे भावना की पुट देने मे जो कार्य हम करेंगे उसमें दूसरा विकल्प बाधक नही बनेगा। अशांति क्यो है ? इसीलिए कि आप अधिकाश प्रतिक्रियात्मक जीवन जीते हैं। घटना कहीं घटित होती है, उसका असर आप पर होता है। बदल कहीं बरसते हैं, ठंडी हवा हमारे पर आती है। वर्षा और आतप का आकाश पर क्या असर पड़ता होगा ? मनुष्य की चमड़ी पर उसका असर पड़ता है। यह सब परिस्थितियो के कारण होता है। मन की दुर्बलता के कारण एव सकल्प-शक्ति के अभाव मे ही यह स्थिति पैदा होती है।

अनुप्रेक्षा अभ्यास-क्रम

कायोत्सर्ग की मुद्रा मे बैठकर किसी एक अनुप्रेक्षा का आलबन ले।

१ अनित्य अनुप्रेक्षा

यह शरीर पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जाएगा। विनाश और विध्वस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्व और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाए होती है। शरीर की भाति अन्य पदार्थो की अनित्यता की भी अनुप्रेक्षा की जा सकती है।

२. अशरण अनुप्रेक्षा

धन, पदार्थ और परिवार कोई भी त्राण नही बन सकता। अपना त्राण अपने मे ही खोजा जा सकता है।

३ ससार अनुप्रेक्षा

जीव जन्म-मरण के चक्कर मे फसा हुआ है। वह कभी जन्म लेता है और कभी मरता है, कभी पशु होता है और कभी मनुष्य। परिवर्तन का चक्र चलता रहता है।

४. एकत्व अनुप्रेक्षा

मनुष्य अकेला जन्मता है और अकेला ही मरता है। सज्ञा, विज्ञान और वेदना—ये सब व्यक्तिगत होते है।

५ अन्यत्व अनुप्रेक्षा

कामभोग मुझ से भिन्न हैं और मै उनसे भिन्न हूं। पदार्थ मुझसे भिन्न है और मैं उनसे भिन्न हू।

६ अशौच अनुप्रेक्षा

यह शरीर अपवित्र है। इससे निरतर विकारो का स्राव होता रहता है। अनुप्रेक्षा की कुछ दिशाए निर्दिष्ट की गई है। इनके अनुसार अन्य अनेक अनुप्रेक्षाओ का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे शरीर पर प्रतिदिन मैल जमता है, वैसे ही मन पर भी कषाय का मैल जमता रहता है, मूर्च्छा सघन होती रहती है। उस मैल को धोने और मूर्च्छा की सघनता को नष्ट करने के लिए अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह प्रतिदिन कम-से-कम एक घटे का होना चाहिए और तीन या छह मास तक निरतर चलना चाहिए।

भावना अभ्यास-क्रम

कायोत्सर्ग करे। पाच-दस दीर्घ श्वास ले। जिस चितन से मन को भावित करना चाहते है, मन मे जो सस्कार निर्मित करना चाहते है उसे दोहराना शुरू करे। उसमे तन्मय हो जाए। उस आलबन के सिवाय दूसरा कोई विकल्प मन मे न लाए। भाव्य विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करे।

जप की भावना का एक प्रकार है। किसी मत्र-जप का अभ्यास भी भावना की विधि से किया जा सकता है। भावना की पुष्टि के लिए एक विषय की भावना का प्रतिदिन कम-से-कम एक घटा और पूर्ण सफलता के लिए तीन घटे का अभ्यास करना चाहिए और यह अभ्यास-क्रम तीन या छह मास की अवधि तक निरतर चलना चाहिए।

भावना-प्रयोग गुण-सक्रमण का सिद्धात है। हम जिसकी भावना करते है उसका गुण हमारी आत्मा मे परिणत हो जाता है।

भावक्रिया अभ्यास-क्रम

अपनी दैनिक प्रवृत्तियो मे भावक्रिया का अभ्यास करे—वर्तमान क्रिया

में तन्मय रहने का अभ्यास करे। जैसे—चलते समय केवल चलने का ही अनुभव हो, खाते समय केवल खाने का आदि। जो क्रिया करे उसकी स्मृति बनी रहे।

दीर्घश्वास प्रेक्षा . अभ्यास-क्रम

सुखासन या पद्मासन मे स्थित हो कायोत्सर्ग करे। श्वास-प्रश्वास को प्रयत्नपूर्वक दीर्घ—लबा करे। मन को नथुने मे स्थापित करे। आते-जाते प्रत्येक श्वास को देखे। मन केवल श्वास को देखने मे लगा रहे, और कोई विकल्प न किया जाए।

दीर्घश्वास लयबद्ध होना चाहिए। प्रथम श्वास लेने मे जितना समय लगे उतना ही समय अन्य श्वास लेने मे लगना चाहिए। इसी प्रकार प्रश्वास मे भी समान समय लगना अपेक्षित है।

दीर्घश्वास के अभ्यास से सुप्त चैतन्य और शक्ति के केन्द्र जागृत होते है। हमारे शरीर मे हृदय, भृकुटि, ललाट-मध्य, मस्तिष्क के मध्यभाग और लघु मस्तिष्क मे विशिष्ट चैतन्य-केन्द्र है। प्रेक्षाध्यान की पद्वति मे हृदयस्थ चैतन्य-केन्द्र को आनन्द-केन्द्र, भृकुटिस्थ चैतन्य-केन्द्र को दर्शन-केन्द्र, ललाट-मध्यस्थ चैतन्य-केन्द्र को ज्योति-केन्द्र, मस्तिष्क मध्यभागस्थ चैतन्य-केन्द्र को ज्ञानकेन्द्र, लघुमस्तिष्कश्थ चैतन्य-केन्द्र को अतीन्द्रिय ज्ञान-केन्द्र कहा जाता है।

उपस्थ के पार्श्वभाग, नाभि, फुप्फस कठ और नासाग्र मे विशिष्ट शक्ति-केन्द्र हैं। प्रेक्षाध्यान-पद्धति के अनुसार गुदा-स्थित केन्द्र को 'शक्ति-केन्द्र', उपस्थ के पार्श्वभाग-स्थित शक्ति-केन्द्र को 'स्वास्थ्य--केन्द्र', नाभि-स्थित शक्ति-केन्द्रो को 'तैजस-केन्द्र', फुप्फस-स्थित शक्ति-केन्द्रो को 'नियामक-केन्द्र', कठ-स्थित शक्ति-केन्द्रो को 'विशुद्धि-केन्द्र' और नासाग्र-स्थित शक्ति-केन्द्रों को 'प्राण-केन्द्र' कहा जाता है।

समवृत्ति श्वासप्रेक्षा · अभ्यास-क्रम

सुखासन या पद्मासन मे स्थित हो कायोत्सर्ग करे। जिस नथुने से श्वास आता हो उससे श्वास ले और दूसरे नथुने से निकाले। फिर जिससे निकाला

उससे श्वास ले और दूसरे नथुने से छोड़े। हर आवृत्ति में श्वास-प्रश्वास का यही क्रम रहे। मन श्वास के साथ-साथ चले। इसमे एक नथुने को अगुली से बंद कर दूसरे से श्वास लिया जाता है और इसी प्रकार छोड़ा जाता है। किन्तु अंगुली का प्रयोग कभी-कभी भले ही करे, मुख्यतया संकल्प के बल पर ही श्वास लेने या छोड़ने का अभ्यास करे। प्रत्येक श्वास-प्रश्वास मे समान समय लगाएं और मन निरतर श्वास की प्रेक्षा करता रहे। समवृत्ति श्वास की प्रेक्षा से विशेषत: अतीन्द्रियज्ञान के चैतन्य-केन्द्र जागृत होते हैं।

शरीर-प्रेक्षा अभ्यास-क्रम

प्रेक्षा का अभ्यास दो प्रकार से किया जा सकता है—पूरे शरीर की प्रेक्षा और शरीर के कुछ विशिष्ट चैतन्य-केन्द्रो की प्रेक्षा।

सर्व शरीर प्रेक्षा

सुखासन या पद्मासन मे स्थित हो कायोत्सर्ग करे। सिर से लेकर पैर तक क्रमश शरीर के प्रत्येक अवयव को मानसिक चक्षु से देखे, पहले बाहर के और फिर भीतर के पर्यायो को देखे। शरीरगत सुखद व दु:खद स्पन्दनो का अनुभव करे। प्रिय और अप्रिय स्पदनो के प्रति तटस्थ रहे।

देश शरीर प्रेक्षा

विशिष्ट चैतन्य-केन्द्रो की प्रेक्षा करे तब उन केन्द्रो को लबे समय तक देखते रहे। विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न केन्द्रो की प्रेक्षा अपेक्षित होती है। इसलिए इस विषय मे प्रेक्षा ध्यान का अभ्यास किसी अनुभवी व्यक्ति के पथदर्शन मे ही करना चाहिए।

अनिमेष प्रेक्षा अभ्यास-क्रम

एक बिन्दु पर दृष्टि टिकाएं। वह बिंदु दृष्टि की समरेखा में दो या तीन फीट की दूरी पर होना चाहिए। उसे अपलक देखते रहें। पलक झपकें नही। यदि झपक जाए तो दूसरी बार फिर शुरू करे, कितु अनिमेष ध्यान का समय लगातर जितने समय तक अपलक रहे, उतना ही माना जाए। प्रारम्भिक अभ्यास पाच मिनिट से शरू करे। फिर धीरे-धीरे समय बढ़ाए। आधा घटा

या चालीस मिनिट तक इस अनिमेष प्रेक्षा का अभ्यास किया जाए। इससे अधिक यदि करना हो तो वह किसी अनुभवी के पथ-दर्शन मे ही किया जाए। अनिमेष प्रेक्षा का अभ्यास नासाग्र और भृकुटी पर भी किया जा सकता है। नासाग्र पर किया जाने वाला अभ्यास बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। अभ्यासकाल मे पूरी एकाग्रता रहे, मस्तिष्क मे कोई विचार न घूमे, ध्यान इधर-उधर न बटे, इतनी तन्मयता से देखे कि सारी शक्ति देखने मे ही लग जाए। देखने वाला दृष्टि ही बन जाए।

अनिमेष प्रेक्षा के अभ्यास से मस्तिष्क के विशेष कोश जागृत होते है, आतरिक ज्ञान प्रस्फुटित होता है। किसी भी वस्तु की गहराई मे जाकर उसके आतरिक स्वरूप को समझने की क्षमता विकसित होती है।

परिशिष्ट-१

महावीर के साधना-प्रयोग

महावीर ने दीक्षित होकर पहला प्रवास कर्मारग्राम मे किया। ध्यान का पहला चरण-विन्यास वही हुआ। वह कैवल्य-प्राप्ति तक स्पष्ट होता चला गया।

कुछ साधक ध्यान के विषय मे निश्चित आसनो का आग्रह रखते थे। महावीर इस विषय मे आग्रहमुक्त थे। वे शरीर को सीधा और आगे की ओर कुछ झुका हुआ रखते थे। वे कभी बैठकर ध्यान करते और कभी खड़े होकर। वे अधिकतर खड़े होकर ध्यान किया करते थे। वे शिथिलीकरण को ध्यान के लिए अनिवार्य मानते थे, इसलिए वे खड़े हो या बैठे, कायोत्सर्ग की मुद्रा मे ही रहते थे। वे श्वास की सूक्ष्म क्रिया के अतिरिक्त अन्य सभी (शारीरिक, वाचिक और मानसिक) क्रियाओ का विसर्जन किए रहते थे।

कुछ साधक ध्यान के लिए निश्चित समय का आग्रह रखते थे। महावीर इस आग्रह से मुक्त थे। वे अधिकाश समय ध्यान मे रहते थे। उन्हे न शास्त्रो का अध्ययन करना था, और न उपदेश। उन्हे करना था अनुभव या प्रत्यक्षबोध। वे दूसरो की गाये चराने वाले ग्वाले नही थे जो समूचे दिन उन्हे चराते रहे और दूध दुहने के समय उनके स्वामियो को सौप आए। वे अपनी गाए चराते और उनका दूध दुहते थे।

महावीर सालबन और निरालबन–दोनो प्रकार का ध्यान करते थे। वे मन को एकाग्र करने के लिए दीवार का आलबन लेते थे। वे प्रहर-प्रहर तक

तिर्यग्-भित्ति (दीवार) पर अनिमेषदृष्टि टिकाकर ध्यान करते थे। इस त्राटक-साधना से केवल उनका मन ही एकाग्र नही हुआ, उनकी आखे भी तेजस्वी हो गयी। ध्यान के विकासकाल में उनकी त्राटक-साधना (अनिमेषदृष्टि) बहुत लम्बे समय तक चलती थी।

एक बार भगवान् दृढ़भूमि प्रदेश मे गए। पेढाल नाम का गाव और पोलाश नाम का चैत्य। वहा भगवान् ने 'एकरात्रिकी प्रतिमा' की साधना की। आरभ मे तीन दिन उपवास किया। तीसरी रात को शरीर का व्युत्सर्ग कर खड़े हो गए। दोनो पैर सटे हुए थे और हाथ पैरो से सटकर नीचे की ओर झुके हुए थे। दृष्टि का उन्मेष-निमेष बद था। उसे किसी एक पुद्गल (बिंदु) पर स्थिर और सब इन्द्रियो को अपने-अपने गोलको मे स्थापित कर ध्यान मे लीन हो गए।

यह भय और देहाध्यास के विसर्जन की प्रकृष्ट साधना है। इसका साधक ध्यान की गहराई मे इतना खो जाता है कि उसे सस्कारो की भयानक उथल-पुथल का सामना करना पड़ता है। उस समय जो अविचल रह जाता है, वह प्रत्यक्ष अनुभव को प्राप्त करता है। जो विचलित हो जाता है वह उन्मत्त, रुग्ण या धर्मच्युत हो जाता है। भगवान् ने इस खतरनाक शिखर पर बारह बार आरोहण किया था।

साधना का ग्यारहवा वर्ष चल रहा था। भगवान सानुलट्ठिय गाव मे विहार कर रहे थे। वहा भगवान् ने भद्र प्रतिमा की साधना प्रारभ की। वे पूर्व दिशा की ओर मुह कर कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खड़े हो गए। चार प्रहर तक ध्यान की अवस्था मे खड़े रहे। इसी प्रकार उन्होने उत्तर, पश्चिम और दक्षिण दिशा की ओर अभिमुख होकर चार-चार प्रहर तक ध्यान किया।

इस प्रतिमा मे भगवान को बहुत आनद का अनुभव हुआ। वे उसकी श्रखला मे ही महाभद्र प्रतिमा के लिए प्रस्तुत हो गए। उसमे भगवान् ने चारो दिशाओ मे एक-एक दिन-रात तक ध्यान किया।

ध्यान की श्रेणी इतनी प्रलब हो गई कि भगवान् उसे तोड़ नही पाए। वे ध्यान के इसी क्रम मे सर्वतोभद्र प्रतिमा की साधना मे लग गए। चारो

दिशाओ, चारो विदिशाओ, ऊर्ध्व और अध —इन दसो दिशाओ मे एक-

एक रात तक ध्यान करते रहे ।

भगवान् ने कुल मिलाकर सोलह दिन-रात तक निरतर ध्यान-प्रतिमा की साधना की ।

भगवान् ध्यान के समय ऊर्ध्व, अध और तिर्यक्—तीनो को ध्येय बनाते थे । ऊर्ध्व लोक के द्रव्यो का साक्षात् करने के लिए ये ऊर्ध्व-दिशापाती ध्यान करते थे । अधो लोक के द्रव्यो का साक्षात् करने के लिए ये अधो दिशापाती ध्यान करते थे । तिर्यक् लोक के द्रव्यो का साक्षात् करने के लिए वे तिर्यक् दिशापाती ध्यान करते थे ।

वे ध्येय का परिवर्तन भी करते रहते थे । उनके मुख्य-मुख्य ध्येय थे–

१ ऊर्ध्वगामी, अधोगामी और तिर्यग्गामी कर्म ।

२ बधन बधन-हेतु और बधन-परिणाम ।

३ मोक्ष, मोक्ष-हेतु और मोक्ष-सुख ।

४ सिर, नाभि और पादागुष्ठ ।

५ द्रव्य, गुण और पर्याय ।

६ नित्य और अनित्य ।

७ स्थूल—सपूर्ण जगत् ।

८ सूक्ष्म—परमाणु ।

९ प्रज्ञा के द्वारा आत्मा का निरीक्षण ।

भगवान् ध्यन की मध्यावधि मे भावना का अभ्यास करते थे । उनके भाव्य विषय थे–

१ ***एकत्व***–जितने सपर्क है, वे सब सायोगिक है । अतिम सत्य यह है कि आत्मा अकेला है ।

२ ***अनित्य***–सयोग का अत वियोग मे होता है । अत सब सयोग अनित्य है ।

३ ***अशरण***–अतिम सच्चाई यह है कि व्यक्ति के अपने सस्कार ही उसे सुखी और दु खी बनाते है । बुरे सस्कारो के प्रकट होने पर कोई भी उसे दु खानुभूति से बचा नही सकता ।

भगवान् ध्यान के लिए प्राय एकान्त स्थान का चुनाव करते थे । वे

ध्यान खड़े और बैठे—दोनो अवस्थाओ मे करते थे। उनके ध्यानकाल मे बैठने के मुख्य आसन थे—पद्मासन, पर्यकासन, वीरासन, गोदोहिक और उत्कटिका।

भगवान् ध्यान की श्रेणी का आरोहण करते-करते उच्चतम कक्षाओ मे पहुच गए। वे लम्बे समय तक कायिक-ध्यान करते। उससे श्रान्त होने पर वाचिक और मानसिक। कभी द्रव्य का ध्यान करते, फिर उसे छोड़ पर्याय के ध्यान मे लग जाते। कभी एक शब्द का ध्यान करते, फिर उसे छोड़ दूसरे शब्द के ध्यान मे प्रवृत्त हो जाते।

भगवान् परिवर्तनयुक्त ध्येय वाले ध्यान का अभ्यास कर अपरिवर्तित ध्येय वाले ध्यान की कक्षा मे आरूढ़ हो गए। उस कक्षा मे वे कायिक, वाचिक या मानसिक—जिस ध्यान मे लीन हो जाते, उसी मे लीन रहते। द्रव्य या पर्याय मे से किसी एक पर स्थित हो जाते। शब्द का परिवर्तन भी नही करते। वे इस कक्षा का आरोहण कर भ्राति की अवस्था को पार कर गए।

भगवान् की ध्यानमुद्रा अनेक ध्यानाभ्यासी व्यक्तियो को आकृष्ट करती रही है। उनमे एक आचार्य हेमचन्द्र भी है। उन्होने लिखा है—

'भगवन्! तुम्हारी ध्यानमुद्रा—पर्यकशायी और शिथिलीकृत शरीर तथा नासाग्र पर टिकी हुई स्थिर आखो—मे साधना का जो रहस्य है, उसकी प्रतिलिपि सबके लिए करणीय है।'

भगवन् प्राय मौन रहने का सकल्प पहले ही कर चुके है। अब जैसे-जैसे ध्यान की गहराई मे जा रहे है, वैसे-वैसे उसका अर्थ स्पष्ट हो रहा है। वाक् और स्पन्दन का गहरा सबध है। विचार की अभिव्यक्ति के लिए वाणी और वाणी के लिए मन का स्पन्दन—ये दोनो साथ-साथ चलते है। नीरव होने का अर्थ है मन का नीरव होना। भगवान् के सामने एक तर्क उभर रहा है—जिसे मै देखता हू, वह बोलता नही है और जो बोलता है, वह मुझे दिखता नही है, फिर मै किससे बोलू? इस तर्क के अन्तस् मे उनका स्वर विलीन हो रहा है।

भगवान् बोलने के आवेग के वश मे नही है। बोलना उनके वश मे है। वे उचित अवसर पर उचित और सीमित शब्द ही बोलते है। वे भिक्षा

की याचना और स्थान की स्वीकृति के लिए बोलते हैं। इसके सिवा किसी से नहीं बोलते। कोई कुछ पूछता है तो उसका सक्षिप्त उत्तर दे देते है। शेष सारा समय अभिव्यक्ति और सपर्क से अतीत रहता है।

तप और ध्यान

- **उवसमणवं दुक्खखयट्ठयाए।**

भगवान ने पूर्व-अर्जित दु खो को क्षीण करने के लिए तपस्या की।

- **अणुत्तर झाणवरं झियाइ।**

भगवान् ने सत्य की प्राप्ति के लिए ध्यान किया।

- **अदु पोरिसिं तिरियभित्ति, चक्खु मासज्ज अंतसो झाई।**

भगवान् ने प्रहर-प्रहर तक तिरछी भित्ति पर आख टिकाकर ध्यान किया।

- **मीसीभाव पहाय से झाई।**

भगवान् जन-सकुल स्थानो को छोड़कर एकात मे ध्यान करते थे।

- **अविझाति से महावीरे, आतणत्थे अकुक्कुए झाण।**
  उड्ढमहेतियि च, लोए झायइ समाहिमपडिन्ने॥

भगवान् विविध आसनो मे स्थिर होकर ध्यान करते थे। वे ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक् लोक को ध्येय बनाकर ध्यान करते थे।

मौन

- **पुट्ठो वि णाभिभासिसु।**

भगवान् पूछने पर भी प्राय नही बोलते थे।

- **रीयइ माहणे अबहुवाई।**

भगवान् बहुत नही बोलते थे। अनिवार्यता होने पर कुछेक शब्द बोलते थे।

- **अयमंतरसि को एत्थ ? अहमसित्ति भिक्खू आहट्टु।**

'यहा भीतर कौन है ?' ऐसा पूछने पर भगवान् उत्तर देते—'मै भिक्षु हू।'

निद्रा

- **णिद्दंमि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए।
जग्गावती य अप्पाणं, ईसिं साई यासी अपडिन्ने ॥**

भगवान् विशेष नीद नहीं लेते थे। वे बहुत बार खड़े-खड़े ध्यान करते तब भी अपने आपको जागृत रखते थे। वे समूचे साधना-काल मे बहुत थोड़े सोए। साढ़े बारह वर्षो मे मुहूर्त्त भर भी नहीं सोए।

- **णिक्खम्म एगया राओ, बहि चकमिया मुहुत्तागं।**

कभी-कभी नीद सताने लगती तब भगवान् चक्रमण कर उस विजय पा लेते। वे निरतर जागरूक रहने का प्रयत्न करते।

आहार

- **मायण्णे असणपाणस्स।**

भगवान् भोजन और पानी की मात्रा को जानते थे और उनका मात्रा के अनुरूप ही प्रयोग करते थे।

- **ओमोयरियं चाएति, अपुट्ठेवि भगव रोगेहिं।**

भगवान् स्वस्थ होने पर भी कम खाते थे। रोग से स्पृष्ट मनुष्य अधिक नही खा सकते। भगवान् रुग्ण नही थे, फिर भी अधिक नही खाते थे।

- **णाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने।**

भगवान् सरस भोजन मे आसक्त नही थे।

- **अदु जावइत्थ लूहेण, ओयण-मथु-कुम्मासेण।**

भगवान् भोजन के विविध प्रयोग करते थे। एक बार उन्होने रूक्ष भोजन का प्रयोग किया। वे कोरे ओदन, मथु और कुल्माष खाते रहे।

- **एयाणि तिन्नि पडिसेवे, अट्ठ मासे व जावए भगव।**

भगवान् ने आठ मास तक उक्त तीन वस्तुओ के आधार पर जीवन चलाया।

- **अपिइत्थ एगया भगव, अद्धमास अदुवा मास पि ?**
- **अवि साहिए दुवे मासे, छप्पि मासे अदुवा अपिवित्ता।**

भगवान् उपवास मे पानी भी नही पीते थे। एक बार उन्होने एक पक्ष

तक पानी नही पिया। एक मास, दो मास और छह मास तक भी पानी पिए बिना रहे।

सामान्य धारणा है कि खान-पान के बिना जीवन नहीं चलता। खाए बिना मनुष्य कुछ दिन रह सकता है पर पानी पिए बिना लम्बे समय तक नही रहा जा सकता। पर भगवान् महावीर ने छह माह तक भोजन-जल न लेकर यह प्रमाणित कर दिया कि मनुष्य सकल्प और प्राणशक्ति के आधार पर भोजन और जल के बिना लम्बे समय तक जीवित रह सकता है।

परिशिष्ट-२

आचारांग में प्रेक्षा-ध्यान के तत्त्व

१ सत्य की खोज

- **पासह एगेवसीयमाणे अणत्तपण्णे ।** (६।५)

तुम देखो, जो आत्मप्रज्ञा से शून्य है वे अवसाद को प्राप्त हो रहे है ।

- **सति पाणा अधा तमंसि वियाहिया ।** (६/९)

अधकार मे होने वाले प्राणी अध कहलाते है । अधकार दो प्रकार का होता है–

१ द्रव्य अधकार–प्रकाश का अभाव

२ भाव अधकार–मिथ्यात्व और अज्ञान ।

अध दो प्रकार के होते है–

१ द्रव्य अध–चक्षु-विहीन ।

२ भाव-अध–विवेक रहित ।

मिथ्यात्व और अज्ञान मे रहने वाले मनुष्य विवेक-शून्य होते है । वे कर्म के उपादान और परिपाक को नही देख पाते ।

- **सुपडिलेहिय सव्वतो सव्वयाए सम्ममेव समभिजाणिया ।** (५/११६)

सब प्रकार से, सम्पूर्ण रूप से निरीक्षण कर सत्य का ही अनुशीलन करना चाहिए ।

- **इहाराम परिण्णाय, अल्लीणगुत्ते परिव्वए ।**
  णिट्ठियट्ठी वीरे, आगमेण सदा परिक्कमेज्जासि ॥ (५/११७)

इस सत्य के अनुशीलन मे आत्म-रमण की परिज्ञा कर, आत्मलीन और जितेन्द्रिय होकर परिव्रजन करे । कृतार्थ और वीर पुरुष सदा आगम-निर्दिष्ट अर्थ के अनुसार पराक्रम करे ।

- **पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि ।** (३/६५)

पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर ।

- **सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मार तरति ।** (३/६६)

जो सत्य की आज्ञा मे उपस्थित है वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है ।

- **सहिए धम्ममादाय सेय समणुपस्सति ।** (३/६७)

सत्य का साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय का साक्षात् कर लेता है ।

२ मूढ़ता

- **भोगामेव अणुसोयति ।** (२/७९)

मूढ़ व्यक्ति भोग के विषय मे ही सोचते रहते है ।

- **सतत मूढे धम्म णाभिजाणइ** (२/९३)

सतत मूढ मनुष्य धर्म को नही जान पाता ।

अणोहतरा एते, नो य ओह तरित्तए ।
अतीरगमा एते, नो य तीर गमित्तए ।
अपारगमा एते, नो य पार गमित्तए । (२/७१)

मूढ़ मनुष्य–
अनोघतर है–ससार-प्रवाह को तैरने मे समर्थ नही है ।

अतीरगम है–तीर तक पहुचने मे समर्थ नही हैं।
अपारगम है–पार तक पहुचने मे समर्थ नही है।

३. अतर्दृष्टि

- **से हु विट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइय।** (२/१५७)

वह ज्ञानी है, पथ को देखने वाला है, जिसने ममत्व की ग्रन्थि को छिन्न कर डाला है।

- **अग्ग च मूल च विगिच धीरे।** (३/३४)

हे धीर ! तू दु ख के अग्र और मूल का विवेक कर।

- **अभिभूय अदक्खू, अणभिभूते पभू निरालबणयाए।** (५/११)

सत्य का साक्षात्कार उसी ने किया है जिसने साधना के विघ्नो को अभिभूत किया है। जो बाधाओ से अभिभूत नही होता, वही निरालबी होने मे समर्थ होता है।

स्वावलबी व्यक्ति दूसरो पर निर्भर नही होता। वह अपने आप मे और अपनी उपलब्धियो मे ही सन्तुष्ट रहता है।

४ समत्व

- **खणसि मुक्के।** (२/२८)

वह क्षणभर मे मुक्त हो जाता है।

- **तम्हा पडिए णो हरिसे, णो कुज्झे।** (२/५१)

पडित पुरुष न हर्षित हो और न कुपित हो।

- **उवेहमाणो अणुवेहमाण बूया–उवेहाहि समियाए।** (५/९७)

मध्यस्थभाव रखने वाला व्यक्ति मध्यस्थभाव न रखने वाले से कहे–'तुम सत्य के लिए मध्यस्थभाव का आलबन लो।'

- **विस्सेणि कट्टु, परिण्णाए।** (६/६८)

समत्व की प्रज्ञा से राग-द्वेष की श्रेणी को छिन्न कर डालो।

- **समय तत्थुवेहाए, अप्पाण विप्पसायए।** (३/५५)

व्यक्ति अपने जीवन मे समता का आचरण कर आत्मा को प्रसन्न करे। दूसरो के प्रत्यक्ष मे पाप कर्म न करना, वैसे ही परोक्ष मे न करना समता है। जो साधक प्रत्यक्ष और परोक्ष मे समान आचरण करता है उसी का चित्त प्रसन्न (निर्मल) रह सकता है। छिप-छिप कर पाप करने वाले का चित्त निर्मल नही रह सकता। वह मलिन हो जाता है।

- **अतर च खलु इम सपेहाए–धीरे मुहुत्तमवि णी पमायए।** (२/११)

इस प्राप्त अवसर की समीक्षा कर धीर पुरुष मुहूर्त्तभर भी प्रमाद न करे।

स्वप्न और जागरण सापेक्ष है। मनुष्य बाहर मे जागता है, तब भीतर मे सोता है। वह भीतर से जागता है, तब बाहर मे सोता है। बाहर मे जागने वाला चैतन्य को विस्मृत कर देता है, इसलिए वह प्रमत्त हो जाता है। प्रमाद का अर्थ है–विस्मृति। भीतर मे जागने वाले को चैतन्य की स्मृति रहती है, इसलिए वह अप्रमत्त रहता है। अप्रमाद का अर्थ है–स्मृति। स्मृति जागरूकता है और विस्मृति स्वप्न है।

- **जेहि वा सद्धि सवसति ते वा ण एगया णियता त पुरिस पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसेज्जा।** (२/१६)

पुरुष जिनके साथ रहता है, वे आत्मीय जन कभी उसके पोषण की पहल करते है। बाद मे वह भी उनका पोषण करता है।

- **सति मरण सपेहाए, भेउरधम्म सपेहाए।** (२/५६)

अप्रमाद शाति है और प्रमाद मृत्यु–यह देखने वाला प्रमाद कैसे कर सकता है ?

- **जागरवेरोवरए वीरे।** (३/८)

जागृत और वैर से उपरत व्यक्ति वीर होता है।

- **उट्ठिए णो पमायए।** (५/४३)

पुरुष अप्रमाद की साधना मे उत्थित होकर प्रमाद न करे।

- **जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।** (५/४४)

सुख और दु ख व्यक्ति का अपना-अपना होता है—यह जानकर व्यक्ति प्रमाद न करे।

- **अणण्णपरमं नाणो, णो पमाए कयाइ वि।**
  आयगुत्ते सया वीरे, जायामायाए जावए॥ (३/५६)

ज्ञानी पुरुष परम सत्य के प्रति क्षणभर भी प्रमाद न करे। वह सदा इन्द्रियजयी और पराक्रमीशील रहे, परिमित भोजन से जीवन-यात्रा चलाए।

६ कायोत्सर्ग

- **नरा मुयच्चा धम्मविदु अंजू।** (४/२८)

देह के प्रति अनासक्त मनुष्य ही धर्म को जान पाते है और धर्म को जानने वाले ही ऋजु होते है।

७ अनित्य अनुप्रेक्षा

- **से पुव्वं पेय पच्छा पेय भेउर-धर्म्म, विद्धसण-धम्म, अधुव, अणितिय, असासय, चयावचइय, विपरिणाम-धम्म, पासह एय रूवं।** (५/२९)

तुम इस शरी को देखो। यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही छूट जाएगा। विनाश और विध्वस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाए होती है।

- **णत्थि कालस्य णागमो।** (२/६२)

मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नही है। वह किसी भी क्षण आ सकती है।

८ अशरण अनुप्रेक्षा

- **नाल ते तव ताणाए वा सरणाए वा ।**
  तुम पि तेसि नालं ताणाए वा सरणाए वा ।। (२/२८)

हे पुरुष ! वे स्वजन तुम्हे त्राण या शरण देने मे समर्थ नही है । तुम भी उन्हे त्राण या शरण देने मे समर्थ नही हो ।

९ एकत्व अनुप्रेक्षा

- **अइअच्च सव्वतो सगं ण मह अत्थि इति एगोहमंसि ।** (६/३८)

पुरुष सब प्रकार के सग का त्याग कर यह भावना करे—मेरा कोई नही है, इसलिए मै अकेला हू ।

१० ससार अनुप्रेक्षा

- **मोहेण गब्भ मरणाति अति ।** (५/७)

प्राणी मोह के कारण जन्म-मरण को प्राप्त होता है ।

- **एत्थ मोहे पुणो पुणो ।** (५/८)

इस जन्म-मरण की शृखला मे बार-बार मोह उत्पन्न होता है ।

- **ससय परिजाणतो, ससारे परिण्णाते भवति ।**
  ससय अपरिजाणतो, ससारे अपरिण्णाते भवति ।। (५/९)

जो सशय को जानता है, वह ससार को जान लेता है—ज्ञेय का ज्ञान और हेय का परित्याग कर देता है ।

जो सशय को नही जानता, वह ससार को नही जान पाता ।

सशय दर्शन का मूल है । जिसके मन मे सशय नही होता—जिज्ञासा नही होती, वह सत्य को प्राप्त नही कर सकता । भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम के मन मे जब-जब सशय होता, तब वे भगवान के पास जाकर उसका समाधान लेते ।

'सशयात्मा विनश्यति'—सशयालु नष्ट होता है । इस पद मे सशय का

अर्थ सदेह है ।

'न सशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'—सशय का सहारा लिए बिना मनुष्य कल्याण को नहीं देखता । इस पद मे सशय का अर्थ जिज्ञासा है ।

ससार का अर्थ है—जन्म-मरण की परंपरा । जब तक उसके प्रति मन मे सशय होता, वह सुखद है या दु.खद, ऐसा विकल्प उत्पन्न नही होता, तब तक वह चलता रहेगा । उसके प्रति सशय उत्पन्न होना ही उसकी जड़ मे प्रहार करता है ।

११ अशौच अनुप्रेक्षा

- **जहा अतो तहा बाहि, जहा बाहि तहा अतो ।** (२/१२९)

यह शरीर जैसा भीतर है वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा भीतर है ।

- **अतो अतो देहतराणि पासति पुढोवि सवताइ ।** (२/१३०)

पुरुष इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर देखता है और झरते हुए विविध स्रोतो को भी देखता है ।

कुछ दार्शनिक अन्तस् की शुद्धि पर बल देते है और कुछ बाहर की शुद्धि पर । भगवान् महावीर एकागी दृष्टिकोण को स्वीकार नही करते । उन्होने दोनो को एक साथ देखा और कहा—केवल अन्तस् की शुद्धि पर्याप्त नही है । बाहरी व्यवहार भी शुद्ध होना चाहिए । वह अन्तस् का प्रतिफलन है । केवल बाहरी व्यवहार का शुद्ध होना भी पर्याप्त नही है । अन्तस् की शुद्धि के बिना वह कोरा दमन बन जाता है । इसलिए अन्तस् भी शुद्ध होना चाहिए । अन्तस् और बाहर—दोनो की शुद्धि ही धार्मिक जीवन की पूर्णता है ।

चित्त को कामना से मुक्त करने का चौथा आलबन है—शरीर की अशुचिता का दर्शन ।

एक मिट्टी का घड़ा अशुचि से भरा हुआ है । वह अशुचि झर कर बाहर आ रही है । वह भीतर से अपवित्र है और बाहर से भी अपवित्र हो रहा है ।

यह शरीर-घट भीतर से अशुचि है । इसके निरतर झरते हुए स्रोतो से बाहरी भाग भी अशुचि हो जाता है ।

यहा रुधिर है, यहा मास है, यहा मेद है, यहा अस्थि है, यहा मज्जा है, यहा शुक्र है। साधक गहराई मे पैठकर इन्हे देखता है।

देहान्तर–अन्तर का अर्थ है–विवर। साधक अन्तरो को देखता है। वह पेट के अन्तर (नाभि), कान के अन्तर (छेद), दाए हाथ और पार्श्व के अन्तर तथा बाए हाथ और पार्श्व के अन्तर, रोम-कूपो तथा अन्य अन्तरो को देखता है। इस अन्तर-दर्शन से उसे शरीर का वास्तविक रूप ज्ञात हो जाता है। उसकी कामना शात हो जाती है।

१२ भावना

- **तद्दिट्ठीय तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे।** (५/११०)

साधक ध्येय के प्रति दृष्टि नियोजित करे, तन्मय बने ध्येय को प्रमुख बनाये, उसकी स्मृति मे उपस्थिति रहे, उसमे दत्तचित रहे।

१३ प्रेक्षा

- **इह आणाकखी पडिए अणिहे एगमप्पाण सपेहाए धुणे सरीर, कसेहि अप्पाण, जरेहि अप्पाण।** (४/३२)

ज्ञानी पुरुष आत्मा की ही सप्रेक्षा करता हुआ अनासक्त हो जाए। वह कर्म शरीर को प्रकपित करे और कषाय-आत्मा को कृश करे, जीर्ण करे।

'एगमप्पाण सपेहाए'–यह पद एकत्व और अन्यत्व भावना का प्रतीक है। आत्मा अकेला कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्मान्तर मे जाता है–

एक प्रकुरुते कर्म, भुङ्क्ते एकश्च तत्फलम्।
जायत्येको म्रियत्येक, एको याति भवान्तरम्॥

'शरीर भिन्न और आत्मा भिन्न है'–यह अन्यत्व भावना है। 'मै सदा अकेला हू, मै किसी दूसरे का नही हू। मै अपने आप को जिसका बता सकू, उसे नही देखता और जिसे मै अपना कह सकू, उसे भी नही देखता–

सदैकोऽह न मे कश्चित् नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न त पश्यामि यस्याह, नासौ भावीति यो मम॥

इस ससार मे अनर्थ ही सार वस्तु है । कौन, किसका, कहा अपना है और कौन, किसका, कहा पराया है । ये स्वजन और परजन सारे भ्रमण कर रहे है । ये किसी समय स्वजन और परिजन हो जाते है । एक समय ऐसा आता है, जब न कोई स्वजन रहता है और न परिजन—

संसार एवायमनर्थसार· कः कस्य कोऽत्र स्वजन. परो वा ।
सर्वे भ्रमन्तः स्वजनाः परे च, भवन्ति भूत्वा न भवन्ति भूयः ॥

आप यह चितन करे—मै अकेला हू, पहले भी मेरा कोई नही है और पीछे भी मेरा कोई नही है । अपने कर्मो के द्वारा मुझे दूसरो को अपना मानने की भ्राति हो रही है । सचाई यह है कि पहले भी मै अकेला हू और पीछे भी मै अकेला ही हू—

विचिन्त्यमेतद् भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित् पुरतो न पश्चात् ।
स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरिय ममैव, अह पुरस्तादहमेव पश्चात् ॥

- **जहा जुण्णाइं कट्ठाइ, हव्ववाहो पमत्थति, एव अत्तसयाहिए अणिहे ।** (४/३३)

जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला देती है वैसे ही समाहित आत्मा वाला तथा अनासक्त पुरुष कर्म-शरीर को प्रकपित, कृश और जीर्ण कर देता है ।

इस पद मे कर्म-शरीर को प्रकपित करने के दो साधन निर्दिष्ट है—समाधि (आत्मा मे एकाग्रता) और अनासक्ति । इन साधनो के निर्देश से भी यह स्पष्ट होता है कि इस प्रकरण मे शरीर से तात्पर्य 'कर्म-शरीर' है ।

इस औदारिक (स्थूल) शरीर की कृशता यहा विवक्षित नही है । एक साधु ने उपवास के द्वारा शरीर को कृश कर लिया । उसका अह कृश नही हुआ था । वह स्थान-स्थान पर अपनी तपस्या का प्रदर्शन करता और प्रशसा चाहता था । एक अनुभवी साधु ने उसकी भावना को समझते हुए कहा—'हे साधु ! तुम इन्द्रियो, कशायो और गौरव (अहभाव) को कृश करो । इस शरीर को कृश कर लिया, तो क्या हुआ ? हम तुम्हारे इस कृश शरीर की प्रशसा नही करेगे'—

इदियाणि कसाए य, गारवे य किसे कुरू ।
णो वयं ते पसंसामो, किसं साहू सरीरगं ।।

भगवान् महावीर ने कर्म-शरीर को कृश करने की बात कही है । स्थूल शरीर कृश हो या न हो, यह गौण बात है ।

- **जे इमस्स विग्गहस्स अय खणेत्ति मन्नेसी ।** (५/२१)

'इस स्थूल शरीर का यह वर्तमान क्षण है'—इस प्रकार जो वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह सदा अप्रमत्त होता है ।

महावीर की साधना का मौलिक स्वरूप अप्रमाद है । अप्रमत्त रहने के लिए जो उपाय बतलाए गए है, उनमे शरीर की क्रिया और सवेदना—ये दो मुख्य उपाय है । जो साधक वर्तमान क्षण मे शरीर मे घटित होने वाली सुख दु ख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है ।

यह शरीर-दर्शन की प्रक्रिया अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया है । सामान्यत बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा को अन्तर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है । इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर है । उनके भीतर आत्मा है । स्थूल शरीर की क्रियाओ और सवेदनो को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमश तैजस् और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है । शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर मे प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है । जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन करने की ओर आगे बढता है, वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता है ।

- **जे अणण्णदसी, से अणण्णारामे,**
  जे अणण्णारामे, से अणण्णदसी । (२/१७३)

जो अनन्य को देखता है, वह अनन्य मे रमण करता है । जो अनन्य मे रमण करता है, वह अनन्य को देखता है ।

भगवान् महावीर की साधना का मौलिक आधार है अप्रमाद—निरतर जागरूक रहना । अप्रमाद का पहला सूत्र है—आत्म-दर्शन । भगवान् ने

कहा--आत्मा से आत्मा को देखो--'संपिक्खए अप्पगमप्पएण ।'

अनन्य-दर्शन का अर्थ आत्म-दर्शन है । जो आत्मा को देखता है, वह आत्मा मे रमण करता है और जो आत्मा मे रमण करता है, वह आत्मा को देखता है । दर्शन के बाद रमण और रमण के बाद फिर स्पष्ट दर्शन–यह क्रम चलता रहता है । वासना और कषाय (क्रोध, अभिमान, माया, लोभ) ये आत्मा से अन्य है । आत्मा को देखने वाला अन्य मे रमण नही करता ।

आत्मा को जानना ही सम्यग्ज्ञान है । आत्मा को देखना ही सम्यग्दर्शन है । आत्मा मे रमण करना ही सम्यग्चारित्र है । यही मुक्ति का मार्ग है ।

अप्रमाद का दूसरा सूत्र है वर्तमान मे जीना–क्रियमाण क्रिया से अभिन्न होकर जीना । वर्तमान क्रिया मे तन्मय होने वाला अन्य क्रिया को नही देखता । जो अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना मे खोया रहता है, वह वर्तमान मे नही रह सकता ।

जो व्यक्ति एक क्रिया करता है और उसका मन दूसरी क्रिया मे दौड़ता है, तब वह वर्तमान के प्रति जागरूक नही रह पाता । जागरूक भाव और तादात्म्य मे ही आत्मदर्शन घटित होता है ।

- **आयतचक्खू लोग-विपस्सी लोगस्स अहो भाग जाणइ, उड्ढ भाग जाणइ, तिरिय भाग जाणइ ।** (२/१२५)

दीर्घदर्शी पुरुष लोकदर्शी होता है । वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है ।

चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का पहला आलबन है–लोक-दर्शन ।

लोक का अर्थ है–भोग्य वस्तु या विषय । शरीर भोग्य वस्तु है । उसके तीन भाग है–

१ अधोभाग–नाभि से नीचे,

२ ऊर्ध्वभाग–नाभि से ऊपर,

३ तिर्यग्भाग–नाभि-स्थान ।

प्रकारान्तर से उसके तीन भाग ये है–

१ अधोभाग–आख का गड्ढा, गले का गड्ढा, मुख के बीच का भाग।

२ ऊर्ध्वभाग–घुटना, छाती, ललाट, उभरे हुए भाग।

३ तिर्यग्भाग–समतल भाग।

साधक देखे–शरीर के अधोभाग मे स्रोत है, ऊर्ध्वभाग मे स्रोत है और मध्यभाग मे स्रोत–नाभि है।

शरीर को समग्रदृष्टि से देखने की साधना-पद्धति बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत सूत्र मे उसी शरीर-विपश्यना का निर्देश है।

२ प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या का दूसरा नय है–

दीर्घदर्शी साधक देखता है–लोक का अधोभाग विषय-वासना मे आसक्त होकर शोक आदि से पीड़ित है।

लोक का ऊर्ध्वभाग भी विषय-वासना मे आसक्त होकर शोक से पीड़ित है।

लोक का मध्यभाग भी विषय-वासना मे आसक्त होकर शोक आदि से पीड़ित है।

३ प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या का तीसरा नय यह है–

दीर्घदर्शी साधक मनुष्य के उन भावो को जानता है, जो अधोगति के हेतु बनते है, उन भावो को जानता है, जो ऊर्ध्वगति के हेतु बनते है, उन भावो को जानता है, जो तिर्यग् (मध्य) गति के हेतु बनते है।

४ इसकी त्राटक-परक व्याख्या भी की जा सकती है–

आखो को विस्फारित और अनिमेष कर उन्हे किसी एक बिदु पर स्थिर करना त्राटक है। इसकी साधना सिद्ध होने पर ऊर्ध्व, मध्य और अध –ये तीनो लोक जाने जा सकते है। इन तीनो लोको को जानने के लिए इन तीनो पर ही त्राटक किया जा सकता है।

भगवान् महावीर ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक मे ध्यान लगाकर समाधिस्थ हो जाते थे।

इससे ध्यान की तीन पद्धतिया फलित होती है–

१ आकाश-दर्शन,

२ तिर्यग् भित्ति-दर्शन,

३ भूगर्भ-दर्शन ।

आकाश-दर्शन के समय भगवान ऊर्ध्वलोक मे विद्यमान तत्त्वो का ध्यान करते थे । तिर्यग् भित्ति-दर्शन के समय वे मध्य-लोक में विद्यमान तत्त्वो का ध्यान करते थे । भूगर्भ-दर्शन के समय वे अधोलोक मे विद्यमान तत्त्वो का ध्यान करते थे । ध्यान-विचार मे लोक-चितन को आलबन बताया गया है । ऊर्ध्वलोकवर्ती वस्तुओ का चितन उत्साह का आलबन है । अधोलोकवर्ती वस्तुओ का चितन पराक्रम का आलबन है । तिर्यक्लोकवर्ती वस्तुओ का चितन चेष्टा का आलबन है । लोक-भावना मे भी तीनो लोको का चितन किया जाता है ।

- **संधि विदित्ता इह मच्चिएहि ।** (२/१२७)

पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के शरीर की सधि को जानकर कामासक्ति से मुक्त हो ।

चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का तीसरा आलबन है—सधि-दर्शन--शरीर की सधियो (जोड़ो) का स्वरूप-दर्शन कर उसके यथार्थ रूप को समझना, शरीर अस्थियो का ढाचा-मात्र है, उसे देखकर उससे विरक्त होना । शरीर मे एक सौ अस्सी सधिया मानी जाती है । चौदह महासधिया है—तीन दाए हाथ की सधिया—कधा, कुहनी, पहुचा । तीन बाए हाथ की सधिया । तीन दाए पैर की सधिया—कमर, घुटना, गुल्फ । तीन बाए पैर की सधिया । एक गर्दन की सधि । एक कमर की सधि ।

- **लोयं च पास विप्फदमाण ।** (४/३७)

तू देख । यह लोक (शरीर) चारो ओर प्रकपित हो रहा है ।

- **जाति च बुड्ढि च इहज्ज ! पासे ।** (३/२६)

हे आर्य ! तू जन्म और वृद्धि को देख ।

जन्म को देखना जन्म की शृखला को देखना है । जो मन की गहराइयो मे उतरकर जन्म को देखता है, वह देखते-देखते जाति-स्मृति को प्राप्त हो जाता

है, अतीत के अनेक जन्मो को देख लेता है। जैसे दस-बीस वर्ष पूर्व की घटना हमारी स्मृति मे उतर आती है, वैसे ही पूर्व-जन्म भी हमारी स्मृति मे होना चाहिए। किंतु ऐसा नही होता। उसका कारण समूढ़ता है। जन्म और मरण के समय होने वाले दु ख से समूढ़ बने हुए व्यक्ति को पूर्व-जन्म की स्मृति नही हो सकती–

- **जातमाणस्स ज दुक्ख, मरमाणस्स, जतुणो।**
  तेण दुक्खेण समूढ़ो, जाति ण सरति अप्पणो॥

जन्म को देखने से, उस पर ध्यान केन्द्रित करने से समूढ़ता दूर हो जाती है और पूर्व-जन्म की स्मृति हो जाती है।

- **णातीतमट्ठ ण य आगमिस्स, अट्ठ नियच्छति तहागया उ।**
  विधूतकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी॥ (३/६०)

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नही देखते। धुताचार वाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी हो, कर्म-शरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है। कुछ साधक अतीत के भोगो की स्मृति और भविष्य के भोगो की अभिलाषा नही करते।

कुछ साधक कहते है–अतीत भोग से तृप्त नही हुआ, इससे अनुमान किया जाता है कि भविष्य भी भोग से तृप्त नही होगा।

अतीत के भोगो की स्मृति और भविष्य के भोगो की अभिलाषा से राग, द्वेष और मोह उत्पन्न होते है। इसलिए तथागत (वीतरागता की साधना करने वाले) अतीत और भविष्य के अर्थ को नही देखते–राग-द्वेषात्मक चित्त-पर्याय का निर्माण नही करते।

जिसका आचार राग, द्वेष और मोह को शात या क्षीण करने वाला होता है वह विधूत-कल्प कहलाता है। वह तथागत विधूत-कल्प 'एयाणुपस्सी' होता है। इसके तीन अर्थ है–

१ एतदनुपश्यी–वर्तमान मे घटित होने वाले यथार्थ को देखने वाला।

२ एकानुपश्यी–अपनी आत्मा को अकेला देखने वाला।

३ एगानुपश्यी—धुताचार के द्वारा होने वाले प्रकपनो या परिवर्तनो को देखने वाला ।

यह राग और द्वेष से मुक्त रहकर कर्म-शरीर को क्षीण करता है ।

- **पलिच्छिंदिया ण णिक्कम्मदसी ।** (३/३५)

सयम और तप के द्वारा राग-द्वेष को छिन्न कर पुरुष आत्मदर्शी हो जाता है ।

आत्मा है, फिर भी वह दुष्ट नही है । उसके दर्शन मे बाधक तत्त्व दो है—राग और द्वेष । ये आत्मा पर कर्म का सघन आवरण डालते रहते है, इसलिए उसका दर्शन नही होता । राग-द्वेष के छिन्न हो जाने पर आत्मा निष्कर्म हो जाता है । निष्कर्म होते ही वह दुष्ट हो जाता है । निष्कर्मदर्शी के चार अर्थ किए जा सकते है—१ आत्मदर्शी, २ मोक्षदर्शी, ३ सर्वदर्शी, ४ अक्रियादर्शी ।

महावीर की साधना का मूल आधार है—अक्रिया । सत् वही होता है, जिसमे क्रिया होती है । आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है—चैतन्य का व्यापार । उससे भिन्न क्रिया होती है, वह स्वाभाविक नही होती । अस्वाभाविक क्रिया का निरोध ही आत्मा की स्वाभाविक क्रिया के परिवर्तन का रहस्य है । स्वाभाविक क्रिया के क्षण मे राग-द्वेष की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है ।

- **एस मरणा पमुच्चइ ।** (३/३६)

आत्मदर्शी मृत्यु से मुक्त हो जाता है ।

- **से हु दिट्ठपहे मुणी ।** (३/३७)

आत्मदर्शी ही पथद्रष्टा होता है ।

- **लोयसी परमदसी विवित्तजीवी उवसते,**
  समिते सहिते सया जए कालकखी परिव्वए । (३/३८)

जो लोक मे परम को देखता है वह विविक्त जीवन जीता है । वह उपशात, सम्यक्, प्रवृत्त, ज्ञान आदि से सहित और सदा अप्रमत्त होकर जीवन के अतिम क्षण तक जागरूक रहता है ।

- **अणोमदंसी णिसन्ने पावेहिं कम्मेहिं ।** (३/४८)

परम को देखने वाला पुरुष पाप-कर्म का आदर नही करता ।

- **उद्देसो पासगस्स णत्थि ।** (२/७३)

द्रष्टा के लिए कोई उपदेश नही है ।

- **संबाहा बहवो भुज्जो-भुज्जो दुरतिक्कमा अजाणतो अपासतो ।** (५/६५)

अज्ञानी और अद्रष्टा मनुष्य बार-बार आने वाली अनेक बाधाओ का पार नही पा सकता ।

बाधाओ को कैसे सहन करना चाहिए ? उनके सहन करने या न करने से क्या लाभ-अलाभ होता है ? –इन सारी स्थितियो को जानने वाला ही उनको समाहित कर सकता है ।

१४ आज्ञाविचय

- **सधेमाणे समुट्ठिए ।** (६/७१)

धर्म का सधान करने वाले तथा वीतरागता के अभिमुख व्यक्ति को अरति अभिभूत नही कर पाती ।

साधक विषयो का त्याग कर सयम मे रमण करता है । साधना-काल मे प्रमाद, कषाय आदि समय-समय पर उभरते है और उसे विषयाभिमुख बना देते है । कितु जागरूकता साधक धर्म की धारा को मूल स्रोत (आत्म-दर्शन) से जोड़कर आत्मानुभव करता रहता है ।

१५ अपायविचय

- **अट्ठे लोए परिजुण्णे, दुस्सबोहे अविजाणए ।** (१/१३)
- **अस्सि लोए पव्वहिए ।** १/१४)

जो मनुष्य विषय-वासना से पीड़ित है वह ज्ञान और दर्शन से दरिद्र है । वह सत्य को सरलता से समझ नही पाता, अत अज्ञानी बना रहता है ।

वह इस लोक मे व्यथा अनुभव करता है ।

१६ विपाकविचय

- **अरइं आउट्टे से मेहावी ।** (२/२७)

जो अरति (चैतसिक उद्वेग) का निवर्तन करता है, वह मेधावी होता है । सयम मे रति और असयम मे अरति से चैतन्य और आनन्द का विकास होता है ।

सयम मे अरति और असयम मे रति करने से उसका ह्रास होता है, इसलिए साधक को यह निर्देश दिया है कि वह सयम मे होने वाली अरति का निवर्तन करे ।

- **भूएहिजाण पडिलेह सात ।** (२/५२)

साधक ! जीवो के कर्म-बध और कर्म-विपाक को जान और उनके सुख-दुख को देख ।

- **समिते एयाणुपस्सी ।** (२/५३)

- **त जहा —अधत्त बहिरत्त मूयत्त काणत्त कुटत्त खुज्जत वडभत्त सामत्त सबलत्त ।** (२/५४)

सम्यग्दर्शी पुरुष इष्ट-अनिष्ट कर्म-विपाक को देखता है । जैसे —कोई अधा है और कोई बहरा, कोई गूगा है और कोई काना, कोई लूला है, कोई कुबड़ा है और कोई बौना, कोई कोढ़ी है और कोई चितकबरा है ।

- **सहपमाएण अणेगरुवाओ जोणीओ सधाति, विरूवरूवे फासे पडिसवेदेई ।** (२/५५)

पुरुष अपने ही प्रमाद से विभिन्न योनियो मे जाता है और विविध प्रकार के आघातो का अनुभव करता है ।

- **से अबुज्झमाणे हतोवहते जाइमरण अणुपरियट्टमाणे ।** (२/५६)

वह प्रमत्त पुरुष कर्म-विपाक को नही जानता हुआ व्याधि से हत और अपमान से उपहत होता है । वह बार-बार जन्म और मरण करता है ।

१७ कर्म

- **इति कम्म परिण्णाय, सव्वसो से ण हिंसति । संजमति णो पगब्भति ।** (४/५१)

इस प्रकार कर्म को पूर्णरूप से जानकर वह किसी की हिंसा नही करता । वह इन्द्रियो का सयम करता है, उनका कभी उच्छृखल व्यवहार नही करता ।

१८ सुख-दु ख

- **सुहट्ठी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति ।** (२/१५१)

मुख का अर्थी बार-बार सुख की कामना करता है । वह इस कामना की व्यथा से मूढ होकर विपर्यास को सुख प्राप्त होता है—दु ख पाता है ।

१९ विराग

- **विरागं रूवेहिं गच्छेज्जा, महया खुड्डएहिं वा ।** (३/५७)

पुरुष क्षुद्र या महान् सभी प्रकार के रूपो (पदार्थों) के प्रति वैराग्य धारण करे ।

- **जमिणं अण्णमण्णवितिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ मुणी कारणं सिया ?** (३/५४)

जो परस्पर एक-दूसरे की आशका से या दूसरे के देखते हुए पाप-कर्म नही करता, क्या उसका कारण ज्ञानी होना है ?

पाप-कर्म नही करने की प्रेरणा अध्यात्मज्ञान है । अध्यात्मज्ञानी जैसे दूसरो के प्रत्यक्ष मे पाप नही करता, वैसे ही परोक्ष मे भी पाप नही करता ।

जो व्यावहारिक बुद्धि वाला होता है, वह दूसरो के प्रत्यक्ष मे पाप नही करता, किंतु परोक्ष मे पाप करता है ।

शिष्य ने पूछा—गुरुदेव ! जो व्यक्ति दूसरो के भय, आशका या लज्जा से प्रेरित हो पाप नही करता, क्या यह आध्यात्मिक त्याग है ?

गुरु ने कहा—यह आध्यात्मिक त्याग नही है । जिसके अन्त करण मे

पापकर्म छोड़ने की प्रेरणा नही है, वह निश्चय नय में ज्ञानी नही है। जो दूसरो के भय से पाप-कर्म नही करता, वह व्यवहार नय मे ज्ञानी है।

२०. कषाय-परित्याग

- **से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च।** (३/७१)

साधक क्रोध, मान, माया और लोभ को छोड़ दे।

- **कसाए पयणुए किच्चा..** । (८/१०५)

साधक कषाय को कृश करे।

२१ वीतरागता

- **दुहओ छेत्ता नियाइ।** (८/४०)

साधक राग और द्वेष--दोनो बधनो को छिन्न कर नियमित जीवन जीता है।

- **कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के।** (२/१८२)

कुशल न बद्ध होता है और न मुक्त होता है।

कुशल का अर्थ है ज्ञानी। धर्म-कथा मे दक्ष, विभिन्न दर्शनो का पारगामी, अप्रतिबद्ध विहारी, कथनी और करनी मे समान, निद्रा एव इन्द्रियो पर विजय पाने वाला, साधना मे आने वाले कष्टो का पारगामी और देश-काल को समझने वाला मुनि 'कुशल' कहलाता है।

तीर्थकर को भी कुशल कहा जाता है।

२२ प्रतिपक्ष भावना

- **लोभ अलोभेण दुगछमाणे, लद्धे कामे, नाभिगाहइ।** (२/३६)

जो पुरुष अलोभ से लोभ को पराजित कर देता है, वह प्राप्त कामो का सेवन नही करता।

- **विणइत्तु लोभ निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति-पासति।** (२/३७)

जो लोभ को छोड़कर प्रव्रजित होता है वह अकर्म होकर जानता-देखता है ।

अलोभ को लोभ से जीतना—यह प्रतिपक्ष का सिद्धात है । शाति से क्रोध, मृदुता से मान और ऋजुता से माया निरस्त हो जाती है, वैसे ही अलोभ से लोभ निरस्त हो जाता है । जैसे आहार-परित्याग ज्वर वाले के लिए औषधि है, वैसे ही लोभ का परित्याग असतोष की औषधि है—

यथाहारपरित्याग ज्वरतस्यौषध तथा ।
लोभस्यैव परित्याग' असंतोषस्य भेषजम् ।।

कुछ पुरुष लोभ-सहित दीक्षित होते है, किंतु यदि वे अलोभ से लोभ को जीतने का प्रयत्न करते है, तो वे वस्तुत साधक ही होगे । जो पुरुष लोभ रहित होकर दीक्षित होते है, वे ध्यान के द्वारा अथवा भरत चक्रवर्ती की भाति शीघ्र ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण से मुक्त होकर ज्ञाता और द्रष्टा बन जाते है ।

२३ श्रद्धा

- **जाए सद्धाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया । विजहित्तु विसोत्तिय ।** (१/३६)

पुरुष जिस श्रद्धा से अभिनिष्क्रमण करे, उसी श्रद्धा को बनाए रखे, चित्त की चचलता के स्रोत मे न बहे ।

लक्ष्य की पूर्ति के लिए अभिनिष्क्रमण करते समय भाव-धारा वर्धमान होती है । उसका हीयमान होना इष्ट नही है, फिर भी काल की लम्बी अवधि मे वह अवस्थित नही रहती, कभी-कभी हीन हो जाती है । इसीलिए आचार्य ने साधक को यह निर्देश दिया—श्रद्धा को बढ़ाओ । यदि बढ़ा न सको, तो अभिनिष्क्रमणकाल मे जो श्रद्धा थी, उसे कम मत होने दो । यदि लोभ न कमा सको तो कम-से-कम मूल पूजी को सुरक्षित रखो । श्रद्धा की हानि चित्त की चचलता या लक्ष्य के प्रति शका होने से होती है ।

- **इणमेव णावकक्खंति जे जणा धुवचारिणो ।**
  जातीमरणं परिण्णाय चरे सकमणे दढे ।। (२/६१)

जो पुरुष मोक्ष की ओर गतिशील है वे विपर्यासपूर्ण जीवन जीने की इच्छा नहीं करते । वे जन्म-मरण को जानकर मोक्ष के सेतु पर दृढ़तापूर्वक चलें ।

२४. सहिष्णुता

- **जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं, उदाहु ते आयंका फुसंति ।**
  इति उदाहु वीरे ते फासे पुट्ठो हियासए ॥ (५/२८)

जो पाप-कर्म मे आसक्त नहीं है, उन्हें कभी-कभी शीघ्रघाती रोग पीड़ित कर देते हैं । भगवान् महावीर ने कहा—उन शीघ्रघाती रोगो के उत्पन्न होने पर पुरुष उन्हें सहन करे ।

२५. सयम

- **पलिछिंदिय बाहिरगं च सोय, णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं ।** (४/५०)

इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को रोककर इस मरण-धर्मा जगत् मे तुम अमृत को देखो ।

जिसकी इन्द्रियो का प्रवाह नश्वर विषयो की ओर होता है, वह अमृत को प्राप्त नहीं हो सकता । उसकी प्राप्ति के लिए इन्द्रिय प्रवाह का मोड़ना आवश्यक होता है । जिसकी सारी इन्द्रिया अमृत के दर्शन मे लग जाती है, वह स्वय अमृतमय बन जाता है । निष्कर्म के पाच अर्थ किए जा सकते है—शाश्वत, अमृत, मोक्ष, सवर और आत्मा । कर्म को देखने वाला कर्म को प्राप्त होता है और निष्कर्म को देखने वाला निष्कर्म को प्राप्त होता है । निष्कर्म-दर्शन योग-साधना का बहुत बड़ा सूत्र है ।

निष्कर्म का दर्शन चित्त की सारी वृत्तियो को एकाग्र कर करना चाहिए । उस समय केवल आत्मा या आत्मोपलब्धि के साधन को ही देखना चाहिए । अन्य किसी वस्तु पर मन नही जाना चाहिए ।

- **संजमति णो पगब्भति ।** (५/५१)

पुरुष इन्द्रियो का सयम करे । उनका उच्छृखल व्यवहार न करे ।

- **जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयव नाणवं वेयव धम्मवं बंभवं । (३/४)**

जो पुरुष शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श को भली-भांति जान लेता है--उनमे राग-द्वेष नही करता वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है ।

शब्द, रूप, रस, गध, और स्पर्श की आसक्ति आत्मा की उपलब्धि मे बाधक बनती है । इनमे आसक्त मनुष्य अनात्मवान् और अनासक्त मनुष्य आत्मवान् कहलाता है । जिसे आत्मा उपलब्ध होता है । उसे ज्ञान, शास्त्र, धर्म और आधार– सब कुछ उपलब्ध हो जाता है । जो आत्मा को जान लेता है, वह ज्ञान, शास्त्र, धर्म और आचार--सब कुछ जान लेता है ।

- **आगति गति परिण्णाय, दोहि वि अतेहि अदिस्समाणे । से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण डज्झइ ण हम्मइ कचण सव्वलोए ॥ (३/५८)**

आगति और गति (ससार-भ्रमण) को जानकर जो राग-द्वेष–इन दोनो अन्तो से दूर रहता है, वह लोक के किसी भी कोने से छेदा नही जाता, भेदा नही जाता, जलाया नही जाता और मारा नही जाता ।

- **पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिगिज्झ, एव दुक्खा पमोक्खसि । (३/२६४)**

पुरुष ! आत्मा का ही निग्रह कर । इस प्रकार तू दु ख से मुक्त हो जाएगा ।

आत्मा शब्द का प्रयोग चैतन्य-पिण्ड, मन और शरीर के अर्थ मे होता है । अभिनिग्रह का अर्थ है–समीप जाकर पकड़ना । जो व्यक्ति मन के समीप जाकर उसे पकड़ लेता है, उसे जान लेता है वह सब दु खो से मुक्त हो जाता है । निकटता से जान लेना ही वास्तव मे पकड़ना है । नियत्रण करने से प्रतिक्रिया पैदा होती है । उनसे निग्रह नही होता । धर्म के क्षेत्र मे यथार्थ को जान लेना ही निग्रह है ।

- **णारतिं सहते वीरे, वीरे णो सहते रतिं ।**
  जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जति ॥ (२/१६०)

साधक सयम-साधना मे उत्पन्न अरति को सहन नहीं करता—तत्काल ध्यान के द्वारा उसे मन से निकाल देता है । असंयम मे उत्पन्न रति को सहन नहीं करता—तत्काल ध्यान के द्वारा उसका रेचन कर देता है, क्योंकि वह विमनस्क नही होता, मध्यस्थ रहता है, इसलिए वह आसक्त नही होता ।

अरति को सहन न करना—यह सकल्प-शक्ति (Will-Power) के विकास का सूत्र है । जिसके प्रति मनुष्य का आकर्षण नही होता, उसके प्रति प्रयत्नपूर्वक ध्यान करने से—मानसिक धारा को प्रवाहित करने से सकल्प-शक्ति विकसित होती है । इन्द्रियो का आकर्षण विषयो के प्रति होता है । विषय-विरति के प्रति उनका आकर्षण नही होता । इसलिए कभी-कभी साधक के मन मे विषय-विरति के प्रति अरति उत्पन्न हो जाती है । उस अरित को सहने वाले साधक का सकल्प शिथिल हो जाता है । जो साधक अरति को सहन नही करता, विषय-विरति के प्रति अपने मन की धारा को प्रवाहित करता है, वह अपनी सकल्प-शक्ति का विकास कर सयम को सिद्ध कर लेता है ।

भगवान् महावीर की साधना अप्रमाद (जागरूकता) और पराक्रम की साधना है । साधक को सतत अप्रमत्त और पराक्रमी रहना आवश्यक है । साधना-काल मे यदि किसी क्षण प्रमाद आ जाता है—अरति-रति का भाव उत्पन्न हो जाता है, तो साधक उसी क्षण ध्यान के द्वारा उसका विरेचन कर देता है । इससे वह सस्कार नही बनता, ग्रथिपात नही होता ।

अरति-रति का रेचन न किया जाए, तो उससे विषयानुबन्धी चित्त का निर्माण हो जाता है । फिर विषय की आसक्ति छूट नहीं सकती ।

२६. अहिसा

- **वेर वड्ढेति अप्पणो** । (२/१३५)

पुरुष माया और लोभ का आचरण कर वैर बढ़ाता है ।

● **जमिणं परिकहिज्जइ, इसमस्स चेव पडिवूहणयाए।** (२/१३६)

यह जो मैं कहता हूं कि कामी पुरुष माया का आचरण कर वैर बढ़ाता है, वह शरीर की पुष्टि के लिए ही ऐसा करता है।

काम और भूख—ये दोनो मौलिक मनोवृत्तिया है। मनुष्य इनकी सतुष्टि के लिए दूसरो पर अधिकार करना चाहता है। भौतिकशास्त्र इनकी संतुष्टि का उपाय बतलाता है। अध्यात्मशास्त्र इन्हे सहने की शक्ति के विकास का उपाय बतलाता है। एक अध्यात्मशास्त्री की वाणी मे उस उपाय का निर्देश इस प्रकार मिलता है—

शिश्नोदरकृते पार्थ! पृथिवी जेतुमिच्छसि।
जय शिश्नोदर पार्थ! ततस्ते पृथिवी जिता॥

'राजन्! काम और भूख की सतुष्टि के लिए तुम पृथ्वी को जीतना चाहते हो। तुम काम और भूख को ही जीत लो। पृथ्वी अपने आप विजित हो जाएगी।'

भगवान् ने कहा—'काम और भूख की सतुष्टि के लिए दूसरो पर अधिकार करने वाला वैर की शृखला को बढ़ाता है। सबके साथ मैत्री चाहने वाला ऐसा नही करता।'

● **आवती केआवंती लोयसि अणारभजीवी, एतेसु चेव मणारभजीवी।** (५/१९)

इस जगत् मे जितने मनुष्य अहिसजीवी है, वे विषयो मे अनासक्त होने के कारण ही अहिसाजीवी है।

● **पुढो छदा इह माणवा, पुढो दुक्ख पवेदित।** (५/२५)

इस जगत् मे मनुष्य नाना प्रकार की इच्छा वाले होते है। उनका दु:ख भी नाना प्रकार का होता है।

● **से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए।** (५/२६)

'सुख-दु:ख का अध्यवसाय स्वतत्र होता है'—इसे जानकर पुरुष किसी की हिसा न करे, जीवो के अस्तित्व को स्वीकार करे। जो कष्ट प्राप्त हो

उन्हे समभाव से सहन करे ।

- **एस समिया-परियाए वियाहिते ।** (५/२७)

अहिसक और सहिष्णु साधक सत्य का पारगामी कहलाता है ।

- **अरंइ आउट्टे से मेहावी ।** (२/२७)

- **खणंसि मुक्के ।** (२/२८)

जो पुरुष अरति का निवर्तन करता है, वह मेधावी होता है । वह क्षणभर मे कामनाओ से मुक्त हो जाता है ।

- **समयं लोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए ।** (३/३)

सब आत्माए समान है'—यह जानकर पुरुष समूचे जीवन लोक की हिसा से उपरत हो जाए ।

- **णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेय परिणिव्वाणं ।** (१/१२१)

तुम प्रत्येक प्राणी की शाति को जानो और देखो ।

- **आयकदसी अहिय ति णच्चा ।** (१/१४६)

जो पुरुष हिसा मे आतक और अहित देखता है वही उससे निवृत्त होता है ।

अहिसा के तीन आलम्बन है—

१ आतक-दर्शन—हिसा से होने वाले आतक का दर्शन ।
२ अहित-बोध—हिसा से होने वाले अहित का बोध ।
३ आत्म-तुला—सब जीवो के सुख-दु ख के अनुभव की समानता । जैसे अपने को सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है, वैसे ही दूसरो को सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है । जैसे दूसरो को सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है, वैसे ही अपने को सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है ।

२७ ब्रह्मचर्य

- **कामा दुरतिक्कमा ।** (२/१२१)

काम दुर्लंघ्य है ।

● **जीवियं दुप्पडिबूहणं** । (२/१२२)

जीवन को बढ़ाया नही जा सकता ।

● **कामकामी खलु एय पुरिसे** । (२/१२३)

यह पुरुष काम-भोगो की कामना करने वाला है ।

● **ये सोयति जूरति तिप्पति पिड्डति परितप्पति** । (२/१२४)

कामी पुरुष शोक करता है, शरीर से सूख जाता है, आसू बहाता है, पीड़ा और परिताप का अनुभव करता है ।

● **गढिए अणुपरियट्टमाणे** । (२/१२६)

काम-भोगो मे आसक्त पुरुष उत्तरोत्तर कामो के पीछे चक्कर लगा रहा है ।

चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का दूसरा आलबन है–अनुपरिवर्तन के सिद्धात को समझना । काम के आसेवन से उसकी इच्छा शात नही होती । कामी बार-बार उस काम के पीछे दौड़ता है । काम अकाम से शात होता है । अनुपरिवर्तन के सिद्धात को समझने वाले व्यक्ति मे काम के प्रति परवशता की अनुभूति जागृत होती है और वह एक दिन उसके पाश से मुक्त हो जाता है ।

● **पंडिए पडिलेहाए** । (२/१३१)

पडित पुरुष काम के विपाक को देखे ।

● **से मइम परिण्णाय, मा य हु लाल पच्चासी** । (२/१३२)

वह मतिमान् मनुष्य काम के यथार्थ स्वरूप को जानकर और त्याग कर लार को न चोट–वात भोग का सेवन न करे ।

● **मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावाताए** । (२/१३३)

साधक अपने-आप को कामभोगो के मध्य मे न फसाए ।

● **कासंकसे खलु अय पुरिसे, बहुमाई,**
कडेण मूढो पुणो त करेइ लोभ । (२/१३४)

कामासक्त पुरुष' यह मैंने किया और यह मै करूगा'—इस उधेड़बुन मे रहता है। वह बहुतो को ठगता है। वह अपने ही कृत कार्यों से मूढ़ होकर काम-सामग्री पाने को पुन ललचाता है।

जे व्यक्ति किकर्त्तव्यता (अब यह करना है, अब यह करना है, इस चिता) से आकुल होता है, वह मूढ़ कहलाता है।

मूढ़ व्यक्ति सुख का अर्थी होने पर भी दु ख पाता है। वह आकुलतावश शयनकाल मे शयन, स्नान-काल मे स्नान और भोजन-काल मे भोजन नही कर पाता—

सोउ सोवणकाले, मज्जणकाले य मज्जिउ लोलो ।
जेमेउ च वराओ, जेमणकाले न चाएइ ॥

मूढ़ व्यक्ति स्वप्निल जीवन जीता है। वह काल्पनिक समस्याओ मे इतना उलझ जाता है कि वास्तविक समस्याओ की ओर ध्यान ही नही दे पाता। एक भिखारी था। उसने एक दिन भैस की रखवाली की। भैस के मालिक ने प्रसन्न हो उसे दूध दिया। उसने दूध को जमा दही बना दिया। दही के पात्र को सिर पर रखकर चला। वह चलते-चलते सोचने लगा—'इसे मथकर घी निकालूगा। उसे बेचकर व्यापार करूगा। व्यापार मे पैसे कमाकर ब्याह करूगा। फिर लड़का होगा। फिर मै भैस लाऊगा। मेरी पत्नी बिलौनी करेगी। मै उसे पानी लाने को कहूगा। वह उठेगी नही, तब मै क्रोध मे आकर एड़ी के प्रहार से बिलौने को फोड़ डालूगा। दही ढुल जाएगा।' वह कल्पना मे इतना तन्मय हो गया कि उसने ढुले हुए दही को सिर्फ साफ करने के लिए सिर पर से कपड़ा खीचा। सिर पर रखा हुआ दही का पात्र गिर गया। उसके स्वप्नो की सृष्टि विलीन हो गई।

● **संखाय पेसल धम्म, दिट्ठिम परिणिव्वुडे** । (६/१०७)

दृष्टिमान् मनुष्य उत्तम धर्म को जानकर विषय और कषाय को शात करे।

- **तम्हा संग ति पासह ।** (६/१०८)

तुम आसक्ति को देखो ।

'सग' शब्द के तीन अर्थ किए जा सकते है –आसक्ति, शब्द आदि इन्द्रिय-विषय और विघ्न ।

आसक्ति को छोड़ने का उपाय है–आसक्ति को देखना । जो आसक्ति को नही देखता, वह उसे छोड़ नही पाता । भगवान् महावीर की साधना-पद्धति मे जानना और देखना अप्रमाद है, जागरूकता है, इसलिए वह परित्याग का महत्त्वपूर्ण उपाय है । जैसे-जैसे जानना और देखना पुष्ट होता है, वैसे-वैसे कर्म-सस्कार क्षीण होता है । उसके क्षीण होने पर आसक्ति अपने-आप क्षीण हो जाती है ।

- **गथेहि गढिया णरा, विसण्णा कामविप्पिया ।** (६/१०९)

परिग्रह मे आसक्त और विषयो मे निमग्न मनुष्य काम से बाधित होते है ।

२८ अपरिग्रह

- **अमरायइ महासड्ढी ।** (२/१३७)

काम और उसके साधनभूत अर्थ मे जिसकी महान् श्रद्धा होती है, वह अमर की भाति आचरण करता है ।

राजगृह मे मगधसेना नाम की गणिका थी । वहा धन नाम का सार्थवाह आया । वह बहुत बड़ा धनी था । उसके रूप, यौवन और धन से आकृष्ट होकर मगधसेना उसके पास गयी । वह आय और व्यय का लेखा करने मे तन्मय हो रहा था । उसने मगधसेना को देखा तक नही । उसके अह को चोट लगी । वह बहुत उदास हो गयी ।

मगध सम्राट जरासध ने पूछा–'तुम उदास क्यो हो ? किसके पास बैठने से तुम पर उदासी छा गयी ?'

गणिका ने कहा–'अमर के पास बैठने से ।'

'अमर कौन ?' सम्राट् ने पूछा ।

गणिका ने कहा—'धन सार्थवाह । जिसे धन की ही चिंता है । उसे मेरी उपस्थिति का भी बोध् नही हुआ, तब मरने का बोध कैसे होगा ?'

यह सही है कि अर्थलोलुप व्यक्ति मृत्यु को नही देखता और जो मृत्यु को देखता है, वह अर्थलोलुप नही हो सकता ।

- **अट्टमेतं पेहाए** । (२/१३८)

जो अर्थार्जन मे अमर की भाति आचरण करता है वह पीड़ित होता है ।

- **अपरिण्णाए कंदति** । (२/१३९)

अर्थ-सग्रह का त्याग नही करने वाला क्रन्दन करता है ।

- **आरत विरत्त मणिकुडल सह हिरण्णेण, इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता** । (२/५८)

मनुष्य रग-बिरगे मणि, कुडल, हिरण्य और स्त्रियो का परिग्रह कर उनमे अनुरक्त हो जाते है ।

- **ण एत्थ तथो वा, दमो वा, णियमो वा दिस्सति** । (२/५९)

परिग्रही पुरुष मे न तप होता है, न शाति और न नियम ।

२९ आस्रव

- **एत्थोवरए त झोसमाणे अय सधी ति अदक्खु** । (५/२०)

इस अर्हत् शासन मे स्थित साधक शरीर को सयत कर यह कर्म-विवर (आस्रव) है, ऐसा देखकर आस्रव को क्षीण करता हुआ प्रमाद न करे ।

- *आस च छद च विगिच धीरे ।* (२/८६)

हे धीर ! तू आशा और स्वच्छंदता को छोड़ ।

- *तुम चेव त सल्लमहट्टु ।* (२/८७)

उस आशा और स्वच्छदता के शल्य का सृजन तूने ही किया है ।

● *जेण सिया तेण णो सिया ।* (२/८८)

जिससे सुख होता है, उससे नही भी होता ।

● **इणमेव णावबुज्झंति, जे जणा मोहपाउडा ।** (२/८९)

मोह से अतिशय आवृत्त मनुष्य पौद्गलिक सुख की अनेकातिकता को भी नही समझ पाते ।

● **उड्ढ सोता अहे सोता, तिरिय सोता वियाहिया ।**
एते सोया वियक्खया, जेहि सगति पासहा ॥ (५/११८)

ऊपर स्रोत है, नीचे स्रोत है, मध्य मे स्रोत है। इनके द्वारा मनुष्य आसक्त होता है । इसे तुम देखो ।

३० सवर

● **आवट्ट तु उवेहाए, एतथ विरमेज्ज वेयवी ।** (५/११९)

राग और द्वेष के आवर्त्त का निरीक्षण कर ज्ञानी पुरुष उससे विरत हो जाए ।

● **विणएत्तु सोय णिक्खम्म, एस मह अकम्मा जाणति पासति ।** (५/१२०)

इनिद्रय-विषयो का परित्याग कर निष्क्रमण करने वाला महान् साधक अकर्म (ध्यानस्थ) होकर जानता-देखता है ।

● **सधि समुप्पेहमाणस्स एगायतणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे विरयस्स** . । (५/३०)

जो कर्म-विवर (आस्रव) को देखता है, वीतरागता मे लीन है, शरीर आदि के ममत्व से मुक्त है, हिसा से विरत है, उसके लिए कोई मार्ग नही है ।

जन्म, जरा, रोग और मृत्यु—ये चार दु ख के मार्ग हैं । विरत के लिए ये मार्ग अवरुद्ध हो जाते है ।

३१ समाधि-मृत्यु

- **कायस्स विओवाए, एस संगाम सीसे वियाहिए ।**
  से हु पारंगमे मुणी, अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठि,
  कालोवणीते कखेज्ज काल, जाव सरीरभेउ । (६/११३)

मृत्यु के समय होने वाला शरीर-पात सग्रामशीर्ष (अग्रिम मोर्चा) कहलाता है । जो पुरुष उसमे पराजित नही होता वही पारगामी होता है ।

वह परीषह से आहत होने पर जैसे खिन्न नही होता, वैसे बाह्य और आतरिक तप के द्वारा फलक की भाति शरीर और कषाय–दोनो ओर से कृश बना हुआ खिन्न न बने । मृत्यु के निकट आने पर जब तक शरीर का वियोग न हो, तब तक काल की प्रतीक्षा करे, मृत्यु की आशसा न करे ।

मृत्यु सचमुच सग्राम है । सग्राम मे पराजित होने वाला वैभव से विपन्न और विजयी होने वाला वैभव से सपन्न होता है । वैसे ही मृत्यु-काल मे आशसा और भय से पराजित होने वाला साधना से च्युत हो जाता है तथा अनासक्त और अभय रहने वाला साधना के शिखर पर पहुच जाता है । इसीलिए आगमकार का निर्देश है कि मृत्यु के उपस्थित होने पर मूढ़ता उत्पन्न नही होनी चाहिए । मूढ़ता से बचने की तैयारी जीवन के अन्तिम क्षण मे नही होती । वह पहले से करनी होती है । उसकी मुख्य प्रवृत्ति है–शरीर और कषाय का कृशीकरण ।

३२ अध्यात्म फलित व्यवहार

- **अण्णहा ण पासए परिहरेज्जा ।** (२/११८)

तत्त्वदर्शी मनुष्य वस्तुओ का परिभोग अन्यथा करे–जैसे तत्त्व नही जानने वाला मनुष्य करता है, वैसे न करे ।

वस्तु का अपरिभोग और परिभोग–ये दो अवस्थाए है । वस्तु का अपरिभोग एक निश्चित सीमा मे ही हो सकता है । जहा जीवन है, शरीर है, वहा वस्तु का उपभोग-परिभोग करना ही होता है । एक तत्त्वदर्शी मनुष्य उसका उपभोग-परिभोग करता है और तत्त्व को नही जानने वाला भी । किंतु इन दोनो के उद्देश्य, भावना और विधि मे अन्तर होता है–

व्यक्ति	उद्देश्य	भावना	विधि
तत्त्व को नही जानने वाला	पौद्गलिक सुख	आसक्त	असयत
तत्त्वदर्शी	आत्मिक विकास के लिए शरीर धारण	अनासक्त	सयत

३३. मुनि

● **पण्णाणेहि परियाणइ लोयं, मुणीते बच्चे, धम्मविउत्ति अजू।** (३/५)

जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है। वह धर्मविद् और ऋजु होता है।

● **आवट्टसोए सगमभिजाणति।** (३/६)

आत्मवान् मुनि आसक्ति को चक्राकार स्रोत के रूप मे देखता है।

● **सीओसिणच्चाई से निग्गथे अरइ-रइ-सहे फरुसियं णो वेदेति॥** (३/७)

निर्ग्रन्थ सर्दी और गर्मी को सहन करता है। वह अरति और रति को सहन करता है—उनसे विचलित नही होता। वह कष्ट का वेदन नही करता।

● **अहेगे धम्म मादाय आयाणप्पभिइ सुपणिहिए चरे।** (६/३५)

कोई व्यक्ति मुनि-धर्म मे दीक्षित होकर, इन्द्रिय और मन को समाहित कर विचरण करता है।

● **अपलीयमाणे दढे।** (६/३६)

वह अनासक्त और दृढ़ होकर धर्म का आचरण करता है।

● **सव्व गेहिं परिण्णाय, एस पणए महामुणी।** (६/३७)

समग्र आसक्ति को छोड़कर, धर्म के प्रति समर्पित होने वाला महामुनि होता है।